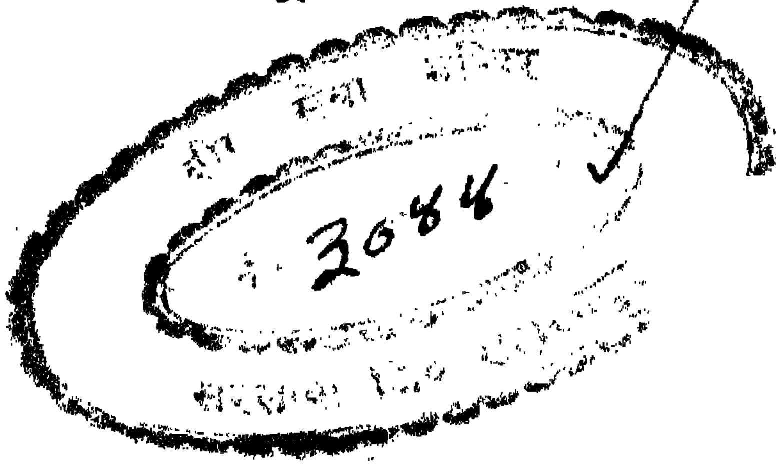
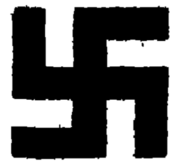
बुद्धचरित

(दूसरा भाग)





अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी

अश्वघोष-कृत

बुद्धचरित

दूसरा भाग, सर्ग १५—२८

प्रथम धर्मोपदेश से महापरिनिर्वाण तक

(हिन्दी-अनुवाद)

अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी, एम ए०

प्रथम संस्करण } फरवरी १९४४ ई० [मूल्य १)

प्रकाशक

संस्कृत-भवन, कठौतिया,

पो० काझा, जि० पूर्णियाँ, (विहार) ।

फागुन बुद्ध-संवत् २४८७ / विक्रम-संवत् २०००

मुद्रक

विश्वनाथप्रसाद,

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी ।

दान-सूची

(१ अक्तूबर १९४२ ई० से जनवरी १९४४ ई० तक)

संस्कृत-भवन के प्रकाशन-कार्य और पुस्तकालय के लिए जिन उदार दाताओं ने आर्थिक सहायता देने की कृपा की है, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए हम उनकी नामावली नीचे प्रकाशित करते हैं :—

दाता	दान
श्री रुद्रनारायण चौधरी, कटौतिया, पूर्णियाँ ...	२००)
श्री अखिल भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा सङ्घ, दिल्ली	१००)
श्री रामशरण सिंह, जलालगढ़, पूर्णियाँ ...	१००)
श्री तुलाराम अग्रवाल, किशनगंज, पूर्णियाँ ...	२५)
श्री जगदीश राइस एण्ड आयल मिल्स, फार्बिसगंज, पूर्णियाँ	२१)
रायसाहब हरिद्वारीमल झुनझुनवाला, कटिहार, पूर्णियाँ	५१)
श्री रामनारायण चौधरी, बरेटा, सेमापुर, पूर्णियाँ	१०१)
श्रीमती बड़ी कुमार-रानी साहिबा, नाजरगंज, पूर्णियाँ सिटी	२१)
सेठ जुगलकिसोर बिड़ला, काशी	१५०)
फुटकर	६)
	योग ७७५)

निवेदन

बुद्धचरित बुद्ध की सर्वश्रेष्ठ प्राचीन जीवनी है। हमारे दुर्भाग्य से अब इसका पूर्वार्ध ही मूल संस्कृत में बचा हुआ है, जो प्रथम हिन्दी-अनुवाद के साथ संस्कृत-भवन से एक वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका है। उत्तरार्ध, जिसमें बुद्ध का परवर्ती जीवन-चरित—धर्मोपदेश एवं महापरिनिर्वाण—चित्रित है, नष्ट हो गया। किंतु स्वतन्त्र चीनी अनुवाद और अविकल तिब्बती अनुवाद में सम्पूर्ण बुद्धचरित सुरक्षित है। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत-अध्यापक डा० जौन्स्टन ने तिब्बती-अनुवाद के आधार पर चीनी-अनुवाद के प्रकाश में उत्तरार्ध का अंगरेजी-अनुवाद किया है। अब इस अंगरेजी-अनुवाद के आधार पर किया गया हिन्दी-अनुवाद पाठकों के सामने उपस्थित करते हुए मुझे दुःख भी है और आनन्द भी। दुःख इसलिए कि तिब्बत के पड़ोस में रहकर भी, तिब्बत के साथ प्राचीन काल से ही हमारा घनिष्ट सम्बन्ध—सांस्कृतिक और व्यापारिक—रहते हुए भी हम सीधे तिब्बती से अनुवाद न कर सके। आनन्द इसलिए कि उत्तर बुद्धचरित, जो हमारे यहाँ से लुप्त होकर सदियों तक तिब्बती रूपान्तर में वर्तमान रहा, अब इतने घूम-फिर के बाद, निस्सन्देह ही बहुत कुछ परिवर्तनों के साथ, संस्कृत की उत्तराधिकारिणी हिन्दी में वापस लाया गया और सम्पूर्ण बुद्धचरित हिन्दी में उपलब्ध हो गया।

डा० जौन्स्टन के अनुसार तिब्बती-अनुवाद में बहुत कुछ त्रुटियाँ हैं, अनुवाद जहाँ तहाँ खण्डित है तथा अठारहवें और छब्बीसवें सर्ग के कुछ दार्शनिक अंशों का अनुवाद दुरूह है। चीनी अनुवाद से, जिसका अन्तिम भाग (सर्ग २२–२८) मूल के अधिक निकट है, सहायता लेने पर भी,

कहीं कहीं, खासकर कुछ दार्शनिक युक्तियों का अनुवाद करने में तथा इक्कीसवें सर्ग के कुछ नामों का तादात्म्य करने में उनकी कठिनाइयाँ हल नहीं हो सकीं। किंतु प्रायः प्रत्येक श्लोक का भावार्थ, डा० जौन्स्टन के अनुसार, स्पष्ट और सही है। उत्तरार्ध के प्रथम छः सर्गों (१५–२०) का विषय निदान-कथा[1] के अनुसार है, इक्कीसवाँ सर्ग बुद्ध की एक प्रकार की दिग्विजय है, और अन्तिम छः सर्गों (२२–२८) का विषय महापरिनिर्वाण सूत्र[2] के अनुसार है।

हिन्दी-अनुवाद अंगरेजी-अनुवाद के अत्यन्त निकट है और जहाँ तहाँ कुछ हद तक स्वतन्त्र भी। दो चार श्लोकों तथा दो-चार वाक्यांशों का, जिनका अंगरेजी-अनुवाद अनिश्चित और सन्देह-जनक है, हिन्दी-अनुवाद देने की अपेक्षा न देना ही अच्छा समझकर छोड़ दिया गया है। इतने घूम-फिर के बाद हिन्दी में अनूदित बुद्धचरित का उत्तरार्ध, जहाँ तक मैं समझता हूँ, कुछ ही स्थलों को छोड़कर अश्वघोष-कृत मूल से दूर नहीं है।

पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी रूपान्तर करने में हिन्दू विश्वविद्यालय के पालि के अध्यापक भदन्त जगदीश काश्यपजी से मुझे बड़ी सहायता मिली है। मेरे अनुवाद के कुछ अंश 'धर्मदूत' मार्च १९४२, 'आरती' अप्रैल १९४२, तथा 'विशाल-भारत' दिसम्बर १९४२ और अप्रैल १९४३ में प्रकाशित हुए हैं। एतदर्थ इन पत्रों के सम्पादकों का मैं कृतज्ञ हूँ। कलकत्ता के इंडियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट के प्रधान मंत्री श्रीयुत सतीशचन्द्र शील ने अपने पुस्तकालय से 'एक्टा ओरियन्टेलिया',

---

१—आनन्दजी द्वारा अनूदित जातक प्रथम खण्ड में 'निदान कथा' का अनुवाद है।

२—महापरिनिर्वाण सूत्र सानुवाद कित्तिमाजी ने सारनाथ से प्रकाशित किया है; इस सूत्र का अनुवाद राहुलजी-कृत बुद्धचर्य्या में भी आ गया है।

नामक पत्रिका (भाग १५, १९३७), जिसमें कि बुद्धचरित उत्तरार्ध का अंगरेजी-अनुवाद प्रकाशित हुआ है, अनुवाद-कार्य के लिए प्रदान कर मुझे अनुगृहीत किया है।

यह दूसरा भाग भी प्रथम भाग के साथ ही प्रकाशित होनेवाला था, किन्तु कई कारणों से उस समय इसका प्रकाशन स्थगित कर दिया गया। उसके बाद ही कागज पर अत्यधिक सरकारी नियन्त्रण हो जाने के कारण उसका अत्यन्त अभाव हो गया और युद्ध-काल तक इस भाग के प्रकाशित होने की कोई आशा दिखाई नहीं पड़ती थी। किन्तु श्रीयुत नारायणदासजी बाजोरिया ने, जिनके साथ पहले से मेरा कोई परिचय न था और न जिनसे मैंने कागज के लिए किसी प्रकार का अनुरोध ही किया था, हठात् ही यथेष्ट परिमाण में कागज का प्रबन्ध कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप पुस्तक समय पर प्रकाशित हो सकी।

इस पुस्तक (के प्रथम और द्वितीय भाग) में अज्ञान और प्रमाद-वश जो दोष रह गये हों उनकी सूचना यदि पाठकगण मुझे भेजने का कष्ट करें, तो मैं अपने को विशेष रूप से अनुगृहीत समझूँगा।

कठौतिया
फागुन, संवत् २००० | सूर्यनारायण चौधरी

विषय-सूची

विषय

ग्रन्थ-सङ्केत

१.	अ० को०	=	अभिधर्मकोश
२.	ध० दू०	=	धर्मदूत
३.	ध० प०	=	धम्मपद
४.	बु०	=	बुद्धचर्या
५.	बु० च०	=	बुद्धचरित
६.	बु० व०	=	बुद्धवचन
७.	म० भा०	=	महाभारत
८.	सौ०	=	सौन्दरनन्द

बुद्धचरित

पन्द्रहवाँ सर्ग †

धर्मचक्र-प्रवर्तन

१. अपना काम पूरा करने पर उन्हें शान्ति की शक्ति विदित हुई; और यद्यपि वह अकेले ही चल पड़े, तो भी ऐसा लगा जैसे बहुत-से लोग उनके साथ जा रहे हों। मार्ग में उन्हें देखकर एक पवित्र भिक्षु ने हाथ जोड़कर यों कहा:—

---

† इस सर्ग से अन्तिम सर्ग तक व्यवहृत निम्न-लिखित चिह्नों की व्याख्या यों है:—

* यह चिह्न जिन श्लोकों के शुरू में है वे चीनी अनुवाद में नहीं हैं।

( ) कोष्ठक के भीतर के शब्द अर्थ स्पष्ट करने के लिए दिए गये हैं। ये शब्द कहीं कहीं पूर्ववर्ती शब्दों के अर्थ हैं और कहीं कहीं बाहर से दिये गये पूरक शब्द हैं।

(=) कोष्ठक के भीतर बराबर के चिह्न से युक्त शब्द मूल संस्कृत शब्द समझ कर दिये गये हैं।

<u>( )</u> कोष्ठक के भीतर रेखाङ्कित पद अप्राप्त पद के स्थान पर अन्दाज से दिये गये हैं या चीनी अनुवाद से।

... ऐसे चिह्नवाले रिक्त स्थानों के मूल पदों का अनुवाद अप्राप्त, दुर्बोध या संदेहजनक है।

२. "जो लोग आसक्ति के अधीन हैं और जिनके इन्द्रियरूपी घोड़े दुर्दान्त हैं, उनके बीच आप आसक्ति-रहित और जितेन्द्रिय हैं ; इसीलिए चन्द्रमा की सी आपकी आकृति अभिनव प्रज्ञा के मधुर रस द्वारा (आपका हार्दिक) संतोष प्रकट कर रही है।

३. आपका धैर्य-युक्त चेहरा यहाँ चमक रहा है, आप अपने इन्द्रियों के स्वामी बन गये हैं और आपकी आँखें बलवान् वृषभ् की सी हैं ; अवश्य ही आप कृतार्थ हैं। हे आर्य, आपके गुरु कौन हैं, किनसे आपने यह सिद्धि पाई है ?"

४. इस पर उन्होंने उत्तर दिया—"मेरा गुरु कोई नहीं। मेरे लिए सम्माननीय कोई नहीं, निन्दनीय तो और भी कोई नहीं। मैंने निर्वाण प्राप्त किया है और मैं वैसा नहीं जैसे कि दूसरे हैं। धर्म के विषय में मुझे स्वयंभू जानो।

५. मैंने उसे पूरा पूरा समझ लिया है जो समझने योग्य (=अवबोध्य) है और जिसे दूसरों ने नहीं समझा है, इसलिए मैं बुद्ध हूँ। और क्योंकि

२—जितेन्द्रिय की जगह अविकल अनुवाद होगा—"इन्द्रियरूपी घोड़ों का दमन कर लिया है"।

४—निर्वाण = "इसी शरीर में राग-द्वेष आदि चित्त-मलों का नष्ट होना क्लेश-निर्वाण है और क्लेश-रहित अर्हत् की मृत्यु होने पर भविष्य में उसके जन्म की सम्भावना के नष्ट होने का नाम स्कन्ध-निर्वाण है;इस प्रकार निर्वाण के दो भेद किये जाते हैं"
—बु० व०।

'चित्त-मल से रहित ऐसे द्युतिमान् पुरुष ही लोक में निर्वाण-प्राप्त हैं।'
—ध० प० छ: १४।

मैंने क्लेशों को शत्रु की तरह जीत लिया है, मुझे शान्तिमय(=शमात्मक) जानो।

६. हे सौम्य, इस समय मैं अमर धर्म की दुन्दुभि बजाने के लिए वाराणसी जा रहा हूँ, यश (से होनेवाले)-सुख के लिए नहीं, अभिमान से नहीं, किंतु दुःख से पीड़ित साथी जनों के हित के लिए।

७. पूर्व में जीव-लोक को आर्त देखकर मैंने यों प्रतिज्ञा की—स्वयं पार होने पर मैं जगत् को पार लगाऊँगा, स्वयं मुक्त होने पर मैं यहाँ रहनेवालों को मुक्त करूँगा।

८. इस जगत् में कुछ लोग धन पाकर केवल अपने लिए ही रखते हैं और इससे लज्जा को प्राप्त होते हैं; किंतु विशेष (सम्पत्ति) प्राप्त करने पर खुली दृष्टिवाले महापुरुष (=महाजन) के लिए केवल वही धन है जिसे वह वितरण करता है।

९. सूखी भूमि पर खड़ा रहनेवाला यदि धारा में बहते आदमी को बाहर खींचने का यत्न नहीं करे, तो वह वीर नहीं; और सम्पत्ति पानेवाला यदि उसे गरीबों के बीच नहीं बाँटे, तो वह दाता नहीं।

१०. स्वस्थ (मनुष्य) को सुलभ उपचारों से व्याधिग्रस्त की चिकित्सा करनी चाहिए और मार्गपति को कुमार्ग से जानेवाले को उचित (=गम्य) मार्ग बताना चाहिए।

११. जैसे कि जब प्रदीप जलता है तब इसके कारण अन्धकार नहीं हो सकता, वैसे ही जब बुद्ध अपना ज्ञान प्रदीप्त करता है तब मनुष्य काम के वशीभूत नहीं होते।

१२. जैसे काष्ठ में अग्नि का रहना, आकाश में हवा का रहना, और पृथ्वी में पानी का रहना नियत है, वैसे ही गया में मुनियों की

बुद्धत्व-प्राप्ति और काशी में उनका उपदेश करना नियत है।"

१३. तब धीरे-धीरे (= उपांशु) प्रशंसा करके उसने बुद्ध को छोड़कर इच्छानुसार अपना रास्ता पकड़ा; किंतु उत्कण्ठित होकर विस्मित आँखों से वह उन्हें बार-बार देखता रहा।

१४. तब क्रम से मुनि ने कोश-गृह के भीतरी भाग के सदृश काशी नगरी को देखा, जिसे भागीरथी और वाराणसी एक साथ मिलकर इस तरह आलिङ्गन कर रही थीं, जैसे सखी को (आलिङ्गन कर रही हों)।

१५. शक्ति एवं गौरव से उज्ज्वल मुनि, सूर्य के समान चमकते हुए, मृगदाव में आये, जहाँ कोयलों की ध्वनि से निनादित वृक्षों के बीच महर्षिगण रहते थे।

१६. तब वह कौण्डिन्य गोत्रवाला, महानाम, वाष्प, अश्वजित् और भद्रजित्—ये पाँच भिक्षु दूर ही से उन्हें देखकर आपस में ये बचन बोले :—

१७. "भिक्षु गौतम समीप आ रहा है, जो आराम-प्रियता के कारण तप से विमुख हो गया है। अवश्य ही हमें न तो उससे मिलना है और न उसका अभिवादन करना है; क्योंकि जो व्रत से विमुख हो गया है वह सम्मान के योग्य नहीं।

१८. किंतु यदि वह हमसे बातचीत करना चाहे, तो हम अवश्य उससे बातचीत करेंगे; क्योंकि आर्य को अवश्य वैसा करना चाहिये, चाहे आगत अतिथि कोई भी हो।"

१९. बुद्ध बैठे हुए भिक्षुओं की ओर बढ़े, जिन्होंने इस तरह

१५—मृगदाव = मृगों का वन, सारनाथ का प्राचीन नाम।

अपने विचार स्थिर किये थे ; और जैसे जैसे वह उनके समीप आते गये वैसे वैसे वे अपना निश्चय तोड़ते गये ।

२०. उनमें से एक ने उनका चीवर ग्रहण किया और उसी प्रकार दूसरे ने हाथ जोड़कर उनका भिक्षा-पात्र ग्रहण किया । तीसरे ने उन्हें उचित आसन दिया और उसी तरह दूसरे दो ने पाँव धोने के लिए उन्हें जल दिया ।

२१. इस प्रकार उनकी अनेक परिचर्याएँ करते हुए उन सब ने उनसे गुरुवत् व्यवहार किया ; किंतु जब कि उन्होंने गोत्र-नाम से उन्हें पुकारना नहीं छोड़ा, तब भगवान् ने करुणापूर्वक उनसे कहा:—

२२. "हे भिक्षुओ, पूज्य अर्हत् से पहले की तरह असम्मानपूर्वक मत बोलो ; क्योंकि यद्यपि मैं सचमुच ही प्रशंसा व निन्दा से उदासीन हूँ, तो भी मैं तुम्हें अपुण्यों से अलग कर सकता हूँ ।

२३. जगत् के हित के लिए बुद्ध बोधि प्राप्त करता है, अतः वह सदा सब जीवों के हित के लिए काम करता है; और जो अपने गुरु को नाम लेकर पुकारता है उसके लिए धर्म उच्छिन्न हो जाता है, जैसे माता-पिता का असम्मान करने से ।"

२४. इस तरह वक्ता-श्रेष्ठ महर्षि ने अपने हृदय की करुणा से उन्हें उपदेश दिया ; किंतु असार एवं मोह द्वारा बहकाये जाने के कारण उन्होंने स्मित मुखों से उत्तर दिया:—

२५. "हे गौतम, तुमने परम उत्कृष्ट तपों द्वारा तत्त्व को नहीं समझा और यद्यपि कष्ट से ही लक्ष्य प्राप्त होता है, तो भी तुम आराम-प्रिय हो । कैसे कह सकते हो—'मैंने (तत्त्व को) देखा है' !"

२६. जब भिक्षुओं ने तथागत की सचाई के बारे में इस प्रकार

अविश्वास प्रकट किया, तब मार्ग-दर्शी ने बोधि-मार्ग को उस (तपोमय मार्ग) से भिन्न देखते हुए उनसे मार्ग की व्याख्या यों की:—

२७. "अपने को क्लेश देनेवाले अज्ञानी को और वैसे ही इन्द्रिय-विषयों में आसक्त रहनेवाले को, इन दोनों को तुम्हें दोष में स्थित समझना चाहिए ; क्योंकि उन्होंने जो मार्ग ग्रहण किये हैं वे अमरत्व (अमृत पद) की ओर नहीं ले जाते।

२८. अज्ञानी का चित्त जब तप नामक शारीरिक क्लेशों से आक्रान्त एवं संक्षुब्ध होता है तब वह बेहोश (संज्ञाहीन) हो जाता है और साधारण लोक-व्यवहार को भी नहीं जान सकता है, फिर तत्त्व के अतीन्द्रिय मार्ग को कहाँ से जानेगा ?

२९. जैसे इस जगत् में अन्धकार-विनाश के लिए प्रकाश पाने के हेतु से कोई पानी नहीं गिराता, वैसे ही ज्ञानाग्नि द्वारा (नष्ट होनेवाले) अज्ञान रूपी अन्धकार के विनाश के लिए शारीरिक क्लेश पूर्व-आवश्यकता (आवश्यक) नहीं है।

३०. जैसे अग्नि चाहनेवाला आदमी काठ को छेदकर या उसे चीरकर अग्नि नहीं पाता। किंतु उचित उपायों के अवलम्बन से ही वह सफल होता है, वैसे ही योग से अमरत्व (अमृत पद) प्राप्त होता है, (शारीरिक) क्लेशों से नहीं।

३१. वैसे ही जो लोग अनर्थकारी काम-वासनाओं में आसक्त रहते हैं, उनके चित्त, तम व रजसे आक्रान्त हो जाते हैं, वे शास्त्र भी नहीं समझ सकते, फिर निरोध का राग-रहित मार्ग कहाँ से समझेंगे ?

३२. जैसे रोग से अभिभूत व्यक्ति अस्वास्थ्यकर भोजन करके रोग-मुक्त (स्वस्थ) नहीं होता, वैसे ही अज्ञानरूपी रोग से अभिभूत

आदमी कामवासनाओं में आसक्त होकर शान्ति कहाँ से पायेगा ?

३३. जैसे जलावन (=आश्रय) के लिए सूखी घास रहने पर और हवा से वीजित (=प्रेरित) होने पर आग नहीं बुझती है, वैसे ही राग का साथ व काम का आश्रय पाकर चित्त शांत नहीं होता है।

३४. दोनों अन्तों (तप और भोग) को छोड़कर मैंने तीसरा ही पाया है—(वह) मध्यम मार्ग (है)—जो दुःख का अन्त करके प्रीति-सुख के परे चला जाता है।

३५. सम्यक् दृष्टिरूपी सूर्य इसे प्रकाशित करता है, सम्यक् सङ्कल्परूपी रथ इस पर चलता है, ठीक ठीक बोली गई सम्यक् वाणी (इसके) विहार (विश्राम-स्थल) हैं, और यह सम्यक् कर्मान्त (सदाचार) के सौ सौ उपवनों (कुञ्जों) से प्रसन्न (उज्वल) है।

३६. यह सम्यक् आजीविकारूपी सुभिक्षा (सुलभ भिक्षा) का उपभोग करता है और सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) रूपी सेना व परिचारकगण से युक्त है ; यह सम्यक् स्मृति (सावधानी, जागरुकता) रूपी किलेबन्दी से सब ओर सुरक्षित है और (सम्यक्) समाधि (मानसिक एकाग्रता) रूपी शय्या व आसन से सुसज्जित है।

३७. इस जगत् में यह ऐसा परम उत्तम अष्टाङ्गिक मार्ग है, जिसके द्वारा मौत बुढ़ापे व रोग से मुक्ति मिलती है।

३८. यह केवल दुःख है, यह समुदय (कारण) है, यह निरोध है, और यह इसका (निरोध-) मार्ग ; इस प्रकार निर्वाण के हेतु अभूतपूर्व एवं अश्रुतपूर्व धर्म-पद्धति के लिए मेरी दृष्टि विकसित हुई।

३९. जन्म जरा रोग और मरण भी, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग,

अभिलषित अन्त (लक्ष्य, वस्तु) की अप्राप्ति—ये विविध दुःख लोगों को सहने पड़ते हैं ।

४०. जिस किसी अवस्था में मनुष्य हो, चाहे वह काम-वासनाओं के अधीन हो या उसने अपने को जीत लिया हो, चाहे वह शरीर-धारी हो या नहीं, जो कोई भी गुण उसे नहीं है संक्षेप में उसी को दुःख जानो ।

४१. मेरा यह निश्चित मत है कि जैसे ज्वालाओं के शान्त होने पर, अति अल्प अग्नि भी उष्ण होने का अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ती है, वैसे ही शान्ति आदि से अति सूक्ष्म होने पर भी आत्म-भाव दुःखधर्मा ही रहता है ।

४२. जानो कि जैसे भूमि जल बीज व ऋतु, अङ्कुर के कारण-स्वरूप हैं, वैसे ही काम-राग आदि दोष तथा दोषों से होनेवाले कर्म, दुःख के कारणस्वरूप हैं ।

४३. स्वर्ग में या नीचे (के लोक में), भव-धारा का कारण काम-राग आदि दोषों का समूह है और इहलोक एवं परलोक में हीन मध्य व ऊँच के भेद का मूल कारण कर्म है ।

४४. दोषों के विनाश से संसाररूपी चक्र का कारण बन्द हो जाता है और कर्म का क्षय होने से दुःख का अन्त होता है ; क्योंकि किसी दूसरी चीज के होने से सब चीजों का प्रादुर्भाव होता है, इसलिए उस दूसरी चीज का लोप होने से उन सब का अन्त होता है ।

४५. जानो कि निरोध वह है जिसमें न जन्म है, न जरा, न मरण, न अग्नि, न पृथ्वी, न जल, न शून्य (आकाश), न वायु, और जो

अनादि अनन्त आर्य अहार्य (जो नहीं हरण किया जा सके) सुखमय (= सुखं) और अविनाशी (=अक्षर) है ।

४६. मार्ग वह है जिसे अष्टाङ्गिक कहा गया है, इसे छोड़कर (लक्ष्य-) प्राप्ति (=अधिगम) का (दूसरा) उपाय नहीं। इस मार्ग को नहीं देखने के कारण लोग विविध मार्गों में भटकते रहते हैं ।

४७. इस विषय में मैंने इस तरह निश्चय किया कि दुःख की पहचान करनी चाहिए, कारण का त्याग करना चाहिए, निरोध का अनुभव करना चाहिए और मार्ग की भावना करनी चाहिए ।

४८. मुझ में दृष्टि (=चक्षु, ज्ञान) इस तरह विकसित हुई कि यह दुःख पहचाना गया और कारण छोड़ा गया, उसी तरह निरोध का अनुभव हुआ और उसी तरह इस मार्ग की भावना की गई ।

४९. जब तक आर्य सत्य की ये चार अवस्थाएँ मैंने नहीं देखीं, तब तक इस जगत् में मुक्त होने का दावा मैंने नहीं किया और अपने में लक्ष्य-प्राप्ति भी नहीं देखी ।

५०. किंतु जब मैंने आर्य सत्यों को अच्छी तरह जाना और उन्हें जानकर कर्तव्य काम को किया, तब इस विषय में मैंने मुक्त होने का दावा किया और देखा कि मैंने लक्ष्य प्राप्त कर लिया ।"

५१. जब करुणामय महर्षि ने इन शब्दों में वहाँ इस तरह धर्मोपदेश किया, तब उस कौण्डिन्य गोत्रवाले और सौ देवताओं ने पवित्र एवं निर्मल (=विरज) दृष्टि पाई ।

५२. जब उसने सब कर्त्तव्य (करणीय) पूरा किया, तब सर्वज्ञ ने वृषभ के से ऊँचे स्वर में पूछा—"क्या तुमने ज्ञान प्राप्त किया ?"

उस महात्मा ने उत्तर दिया—"हाँ, मैंने आपका उत्तम विचार जाना।"

५३. तब "हाँ, मैंने जाना" यह कहनेवाले कौण्डिन्य ने जगत् में (पहले-पहल) उस पद का ज्ञान ग्रहण किया और आर्य गुरु तथागत के भिक्षुओं में प्रधान धर्म-ज्ञाता हुआ।

५४. पृथ्वी पर रहनेवाले यक्षों ने यह शब्द सुनकर गूँजती वाणी में घोषणा की—"यह ध्रुव है कि श्रेष्ठ दृष्टिवान् ने सब जीवों की अमर शान्ति के लिए धर्म-चक्र को अच्छी तरह चलाया।

५५. शील इसके आरे (=अणि, कीलक) हैं, शम एवं विनय इसकी पुट्टियाँ (=नेमि) हैं, यह बुद्धि (?) में विशाल है और स्मृति (जाकरुकता) एवं मति (ज्ञान) से स्थिर है, लज्जा (=ह्री) इसकी नाभि है। गम्भीरता असत्य–अभाव तथा उपदेश की उत्तमता के कारण त्रिभुवन में उपदिष्ट होते समय यह धर्म-चक्र अन्य शास्त्रों द्वारा उलटाया नहीं जा सकता।"

५६. पर्वत पर के यक्षों के शब्द सुनकर स्वर्ग के देव-संघों ने ध्वनि ग्रहण की और उसी तरह परलोक से परलोक को ब्रह्मलोक तक यह जोरों से चढ़ गई।

५७. महर्षि से 'तीनों लोक अनित्य हैं' यह सुनकर कुछ संयतात्मा (=आत्मवान्) देवगण (=दिवौकस्) इन्द्रिय-विषयों से विरत हुए और चित्त में संवेग होने के कारण उन्होंने तीन भवों के विषय में शान्ति पाई।

५७—लोक (= भव) तीन हैं ; रूप अरूप और काम।

५८. जब तीन लोकों (त्रिभुवन) की परम शान्ति के लिए स्वर्ग में और पृथ्वी पर धर्म-चक्र उस तरह चलाया गया, तब उस मुहूर्त में अनभ्र आकाश से फूलों से भरी जल-वृष्टि हुई और तीन लोकों के निवासियों ने बड़ी बड़ी दुन्दुभियाँ बजाईं ।

बुद्धचरित महाकाव्य का "धर्मचक्र-प्रवर्तन" नामक

पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ।

सोलहवाँ सर्ग

अनेक शिष्य

१. तब सर्वज्ञ ने अश्वजित् तथा अन्य संयतचित्त भिक्षुओं को निर्वाण-धर्म में स्थापित किया।

२. उन पञ्च-वर्गीय (भिक्षुओं) से घिरे (बुद्ध) आकाश के उस चन्द्रमा के समान शोभित हुए, जो सूर्याधिपति (जिसका अधिपति सूर्य है) नक्षत्र (हस्ता) के पाँच तारों से युक्त हो।

३. उस समय यश नामक कुल-पुत्र (या श्रेष्ठी के पुत्र) ने असावधानी से सोई हुई कुछ स्त्रियों को देखा और इससे उसके चित्त में संवेग हो गया।

४. "यह सब कितना कृपण है", यह वचन कहकर, उज्ज्वल आभूषणों से चमकता हुआ, वह वहाँ गया जहाँ बुद्ध थे।

५. उसे देखकर मनुष्यों के आशय और दोष जाननेवाले तथागत ने कहा—"निर्वाण के लिए कोई निश्चित समय नहीं, यहाँ आओ और सौगत्य प्राप्त करो।"

६. जिनका यश दूर तक फैला हुआ था उनके ये वचन सुनकर, आतप से पीड़ित होकर नदी में प्रवेश करने वाले के समान, उसने अत्यन्त मानसिक शान्ति पाई।

७. तब पूर्व कारण के बल से उसने उसी शरीर में (अर्थात् गृहस्थ-वेष में ही) शरीर व मन से अर्हत्-पद (=अर्हत्त्व) को अनुभव किया।

८. जैसे खारे जल से स्वच्छ हुआ वस्त्र रंग ग्रहण करता है वैसे ही उस निर्मलचित्त ने सद्धर्म को सुनते ही पूरा पूरा समझ लिया ।

९. उन वक्ता-श्रेष्ठ (=वदतांवरः) ने, जो अपना काम पूरा कर चुके थे और जो अच्छे लक्ष्य को जानते थे (=जानन् सदर्थं), अपने वस्त्रों के कारण उसे वहाँ लज्जित होते देखकर कहा :—

१०. "भिक्षु-वेष धर्म का कारण नहीं है ; जो सब जीवों को समान भाव से देखता है और जिसने शम एवं विनय द्वारा अपने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह आभूषण पहनकर भी धर्म में विचरण करता है ।

११. जो शरीर से घर को छोड़ता है चित्त से नहीं और जो काम के अधीन है, वह वन में रहने पर भी गृहस्थ समझा जाता है ।

१२. जो चित्त से जाता है किंतु शरीर से नहीं और जो अनात्म है, वह घर में रहने पर भी वनवासी समझा जाता है ।

१३. जिसने यह सिद्धि पाई है वह मुक्त कहा जाता है, चाहे वह घर में रहता हो या भ्रमणशील भिक्षु हो गया हो ।

१४. जैसे विजय चाहनेवाला (राजा) विपक्षी सेना को जीतने के लिए कवच पहनता है, वैसे ही दोषों की विपक्षी सेना को जीतने के लिए आदमी (भिक्षु-) वेश ग्रहण करता है ।"

१५. तब तथागत ने उसे कहा —"यहाँ आओ, भिक्षु" । यह वचन सुनकर वह भिक्षु-वेष पहने हुए आया ।

१६. तब उसमें अनुरक्त होने के कारण उसके मित्रों ने, जो संख्या में पचास और तीन और एक (=चौवन) थे, धर्म लाभ किया ।

१७. जैसे क्षार से लिपे वस्त्र, जल के स्पर्श से तुरत साफ हो जाते हैं, वैसे ही पूर्व युगों में उनके कर्म पवित्र हो चुकने के कारण वे तुरत पूत हो गये।

१८. उस समय शिष्यों की पहली टोली में कुल साठ हुए, जो अर्हत् भी थे; और तब अर्हतों द्वारा सम्यक् रूप से सम्मानित होकर उन अर्हत् ने उन्हें यों कहा:—

१९. "हे भिक्षुओ, तुम सब दुःख के परे चले गये हो और अपना महान् कार्य पूरा कर चुके हो। अब उनकी मदद करनी चाहिए, जो इस समय भी दुःखी हैं।

२०. इसलिए तुम सब अकेला अकेला इस पृथ्वी पर घूमो और लोगों के दुःख के प्रति दया-भाव से उन्हें धर्मोपदेश करो।

२१. मैं स्वयं राजर्षियों की निवास-भूमि गया (= गय) की ओर काश्यप ऋषियों को विनीत करने के लिए जा रहा हूँ, जो अपनी सिद्धियों के कारण दिव्य शक्तियों से युक्त (= ऋद्धिमान्) हैं।"

२२. तब उन (भिक्षुओं) ने, जिन्हें तत्त्व का दर्शन हो चुका था, उनकी आज्ञा से सब दिशाओं में प्रस्थान किया और द्वन्द्वों से मुक्त महर्षि सुगत गया की ओर गये।

२३. तब क्रम से वह वहाँ पहुँचे और धर्म-वन (तपोवन ?) के समीप जाकर उन्होंने काश्यप को मूर्त्त तप के समान वहाँ रहते देखा।

२४. यद्यपि पर्वतों पर और उपवनों में रहने के स्थान थे, तो भी दश-बल-धारी शास्ता ने उसे विनीत करने की इच्छा से उससे निवास-स्थान माँगा।

२५, २६. ... ...

२७. तब सिद्ध को नष्ट करने के लिए बुरे आशय से (=विष-मस्थ) उसने उन्हें अग्नि-शाला दी, जहाँ एक बड़ा साँप रहता था।

२८. रात को विषाक्त दृष्टिवाले साँप ने महामुनि को शान्त और निर्भय होकर वहाँ अपनी ओर देखते देखा और क्रोध से वह उनके ऊपर फुत्कार उठा।

२९. उसके क्रोध से अग्नि-गृह में आग लग गई, किन्तु अग्नि ने मानो डर के मारे महामुनि के शरीर का स्पर्श नहीं किया।

३०. जैसे महाकल्प के अन्त में अग्नि के शान्त होने पर ब्रह्मा बैठा हुआ प्रदीप्त होता है, वैसे ही गौतम, अग्निशाला के सर्वथा प्रज्वलित होने पर भी निर्भय (असंविग्न) रहे।

३१. जब बुद्ध वहाँ बिना किसी हानि के निश्चल होकर बैठे रहे, तब साँप को विस्मय हुआ और उसने ऋषि-श्रेष्ठ को प्रणाम किया।

३२. मुनि को वहाँ बैठा हुआ समझकर मृगदाव (तपोवन ?) के लोग अत्यन्त आर्त एवं दयाभिभूत हुए कि वैसा भिक्षु जल गया होगा।

३३. रात के बीतने पर विनायक ने अपने भिक्षा-पात्र में साँप को शान्तिपूर्वक ले लिया और काश्यप को दिखाया।

३४. बुद्ध की शक्ति देखकर वह विस्मित हुआ, तो भी उसका विश्वास बना रहा कि शक्ति में उससे बढ़कर कोई नहीं।

३५. तब उसका यह विचार जान, शान्त ऋषि ने समयानुकूल विविध रूप धारण कर उसके हृदय को पवित्र किया।

२७—अग्नि-शाला = पानी गर्म करने का घर—बु०।

३६. इसपर उसने ऋद्धि में बुद्ध को अपने से बड़ा माना और उसने उनका धर्म लाभ करने का निश्चय किया।

३७. औरुविल्व काश्यप का आकस्मिक हृदय-परिवर्तन देखकर उसके पाँच सौ अनुयायियों ने भी धर्म का आश्रय लिया।

३८. जब गय (काश्यप) और नदी (काश्यप) का भाई (औरुविल्व काश्यप) अपने शिष्यों सहित (दुःख के) पार चला गया और वल्कल वस्त्र फेंक चुका, तब वे दोनों (भाई) भी वहाँ पहुँचे और मार्ग पर आरूढ़ हुए।

३९. तब गयशीर्ष पर्वत पर अनुयायियों सहित तीनों काश्यप भाइयों को ऋषि ने निर्वाण-धर्म का उपदेश दिया :—

४०. "मोहरूपी धुएँ से ढँकी हुई तथा वितर्कों से पैदा होनेवाली राग-द्वेषरूपी अग्नि से सारा जगत् विवश होकर जल रहा है।

४१. शांति एवं नेतृत्व के विना इस तरह दोषों की अग्नि से जलता हुआ यह (जगत्) जरा-मरण व रोग की अग्नियों से बार बार निरन्तर उपभुक्त (नष्ट) हो रहा है।

४२. इस जगत् को निराश्रय व विविध अग्नियों से दग्ध देखकर, बुद्धिमान् पुरुष को चित्त एवं इन्द्रियों से युक्त अपने शरीर पर संवेग होता है।

४३. संवेग से उसे निष्कामता होती है और निष्कामता से मुक्ति; तब मुक्त होकर वह अपने को सब प्रकार से मुक्त हुआ जानता है।

४४. भव-धारा का पूरा पूरा परीक्षण कर, वह संन्यास ग्रहण करता है और अपना कार्य पूरा करता है; उसके लिए फिर जन्म नहीं।"

४५. जब हजार भिक्षुओं ने भगवान् का यह उपदेश सुना, तब अनुपादान (उपादान के अभाव) के कारण उनके चित्त तुरत आस्रवों (मलों) से मुक्त हो गये।

४६. तब अत्यन्त बुद्धिमान् (= महाप्रज्ञ) तीनों काश्यपों के साथ बुद्ध इस तरह शोभित हुए, जैसे धर्म का अवतार, दान शील और विनय से घिरा हो।

४७. तपोवन उन उत्तम···से वञ्चित होकर निष्प्रभ हो गया, जैसे धन धर्म और आनन्द से रहित रोगी मनुष्य का जीवन फीका पड़ जाता है।

४८. तब मगध-राज के साथ अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा याद कर, उन सब से घिरे हुए ऋषि, राजगृह की ओर गये।

४९. तब वेणुवन में तथागत का आगमन सुनकर, राजा अपने मंत्रियों के साथ उन्हें देखने के लिए गया।

५०. तब विस्मय से विकसित आँखोंवाली जनता, जीवन में अपनी अपनी स्थिति के अनुसार, पैदल या सवारी पर, पहाड़ी रास्ते से बाहर आई।

५१. दूर ही से उत्तम ऋषि को देखकर, मगध-राज उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए शीघ्रतापूर्वक अपने रथ से उतर गया।

५२. चँवर, व्यजन और परिजनों को पीछे छोड़, राजा ऋषि के पास गया, जैसे इन्द्र ब्रह्मा के पास जा रहा हो।

५३. उसने शिर नवाकर महर्षि को प्रणाम किया, जिससे उसका मुकुट काँप उठा और उनकी अनुमति पाकर वह कोमल तृणों से आवृत पृथ्वी पर बैठ गया।

५४. वहाँ लोगों के मन में हुआ—"अहो ! शाक्य-ऋषि का प्रभाव ! क्या ऋषि काश्यप भी उनके शिष्य हो गये !"

५५. तब उनके मन (की बात) जानकर, बुद्ध ने काश्यप से कहा—"काश्यप, कौन गुण देखकर तुमने अग्नि की पूजा छोड़ी ?"

५६. बलवान् बादल की सी आवाज में जब गुरु ने उसे इस तरह उत्तेजित किया, तब हाथ जोड़कर भरी सभा में उसने जोरों से कहा:—

५७. "अग्नि की पूजा करने का और उसमें आहुति देने का फल है संसार-चक्र में प्रवृत्ति एवं विविध मानसिक आधियों की सङ्गति ; इसलिए मैंने अग्नि (—पूजा) छोड़ी ।

५८. विषयों की तृष्णा से, मन्त्रोच्चारण करने से और आहुति आदि देने से विषयों की तृष्णा दृढ़तर ही होती है ; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी ।

५९. मंत्रोच्चारण एवं अग्नि-आहुति द्वारा जन्म से मुक्ति नहीं होती और जन्म का दुःख महान् है ; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी ।

६०. पूजा-कर्म और तप से श्रेय प्राप्त होता है, यह मिथ्या विश्वास है ; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी ।

६१. मैं जन्म-मरण से मुक्त, सुखमय व अविनाशी (=अक्षर) पद को जानता हूँ; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी ।"

६२. विनीत (दीक्षित) हुए काश्यप का वैसा श्रद्धोत्पादक एवं तथ्यपूर्ण वचन सुनकर विनायक ने उसे कहा :—

६३. "हे महाभाग, तुम्हारी विजय हो; तुमने विविध धर्मों में सबसे उत्तम धर्म प्राप्त किया, निस्संदेह यह तुमने बड़ा अच्छा किया है ।

६४. जैसे महा-ऐश्वर्यशाली व्यक्ति अपने विविध कोषों का प्रदर्शन करता है वैसे ही अपनी विविध ऋद्धियाँ (दिव्य शक्तियाँ) दिखाकर सभा के लोगों के हृदय उत्तेजित करो।"

६५. तब काश्यप ने कहा—"बहुत अच्छा" और अपने को अपने में ही संकुचित कर पवन-पथ (आकाश) में पक्षी के समान उड़ गया।

६६. वह ऋद्धि-विशारद आकाश में खड़ा रहा, जैसे वृक्ष के तने पर (खड़ा हो), इधर उधर घूमा जैसे पृथ्वी पर (घूम रहा हो), बैठ गया जैसे शय्या पर (बैठा हो), और तब पड़ रहा।

६७. कभी वह अग्नि के समान प्रज्वलित हुआ, कभी मेघ के समान पानी बरसाया, कभी एक ही साथ प्रज्वलित हुआ और पानी बरसाया।

६८. जब चमकते हुए और पानी बरसाते हुए उसने लम्बे पग बढ़ाये, तब वह उस बादल के समान शोभित हुआ जो पानी बरसा रहा हो और चमकती बिजली से उज्ज्वल हो।

६९. उसमें लगी हुई आँखों से लोगों ने उसे विस्मयपूर्वक देखा और उसे सम्मानपूर्वक प्रणाम करते हुए उन्होंने सिंह-गर्जन किये।

७०. तब ऋद्धि-प्रदर्शन बन्द कर उसने शिर झुकाकर ऋषि को प्रणाम किया और कहा "मैं शिष्य हूँ, जिसने यह काम किया और मेरे गुरु (ये) भगवान् (बुद्ध) हैं"।

७१. काश्यप, महर्षि को इस प्रकार प्रणाम कर रहा है, यह देखकर मगध-निवासियों ने निश्चय किया कि सुगत ही सर्वज्ञ हैं।

७२. तब श्रेय में रमनेवाले उन (सुगत) ने भूमि को तैयार समझा और धर्म को सुनने के लिए इच्छुक श्रेण्य (बिम्बसार) से उसके हित के लिए कहा :—

७३. "हे पृथ्वीपति, हे जितेन्द्रिय महात्मन्, चित्त और इन्द्रियों के साथ रूप का उदय और अस्त (=व्यय) होता है।

७४. धर्म-वृद्धि के लिए उनका उदय और व्यय ठीक ठीक जानना चाहिए, और इन दो बातों को ठीक ठीक जानकर शरीर को ठीक ठीक समझो।

७५. शरीर को उदय और व्यय के अधीन जान लेने से उपादान बिलकुल नहीं रहता और "मैं" या "मेरा" का भाव नहीं होता।

७६. मानसिक कल्पनाओं के बाहर शरीर और इन्द्रियों की वास्तविकता नहीं है ; दुःख होकर वे उदय होते हैं, दुःख होकर वे अस्त होते हैं।

७७. यह सब "मैं" या "मेरा" नहीं है, ऐसा समझने पर परम अविनाशी निर्वाण प्राप्त होता है।

७८. "मैं" आदि का अस्तित्व मानने के दोषों से मनुष्य मिथ्या आत्म-वाद में बँध जाते हैं और "आत्मा नहीं है" यह देखने पर वे कामनाओं से मुक्त होते हैं।

७९. मिथ्या दृष्टि बाँधती है, सम्यक् दृष्टि मुक्त करती है। "आत्मा है" इस विचार में रहनेवाला यह जगत् सत्य को ग्रहण नहीं करता।

८०. यदि आत्मा रहती, तो यह नित्य या अनित्य होती ; दोनों (मतों) में ही बड़े बड़े दोष हैं।

८१. यदि इसे अनित्य माना जाय, तो कर्म-फल नहीं होगा; और पुनर्जन्म नहीं होने से निर्वाण हमें अनायास ही प्राप्त होगा।

८२. यदि यह नित्य और सर्व-व्यापी रहती, तो न जन्म होता न मरण; क्योंकि सर्वव्यापी और नित्य शून्य का न उदय है न व्यय।

८३. यदि यह आत्मा स्वभाव से सर्वव्यापी रहती तो कोई स्थान नहीं जहाँ यह नहीं होती; और इसका अस्त होने पर सब को साथ ही निर्वाण होता।

८४. स्वभाव से सर्वव्यापी होने के कारण यह कर्मशील नहीं होती और कर्म नहीं किया जाता; और कर्म नहीं करने से फल के साथ उन (कर्मों) का संयोग कैसे होता ?

८५. यदि आत्मा कर्म करती तो यह अपने को दुःख नहीं देती; क्योंकि अपना स्वामी आप होकर कौन अपने को दुःख देगा ?

८६. आत्मा को नित्य मानने से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह परिवर्तनशील नहीं; किंतु क्योंकि यह दुःख-सुख अनुभव करती है, अतः हम देखते हैं कि इसमें परिवर्तन होता है।

८७. ज्ञान-प्राप्ति और दोष-परित्याग से निर्वाण होता है; और क्योंकि आत्मा अकर्मशील एवं सर्वव्यापी है; इसलिए इसे निर्वाण नहीं होगा।

८८. यह नहीं कहना चाहिए कि आत्मा है, क्योंकि वास्तव में इसका अस्तित्व नहीं है।

८९. करणीय काम क्या है और कौन इसे करता है—यह स्पष्ट नहीं है, अतः आत्मा इस प्रकार (नित्य या अनित्य होकर) रहती है, ऐसा नहीं कह सकते; और इसलिए इसका अस्तित्व नहीं।

१०. हे उत्तम श्रोता, इस उपदेश को सुनो कि भव-धारा इस शरीर को—जिसमें न करनेवाला है, न वेदना अनुभव करनेवाला (=वेदक), और न आदेश देनेवाला---धारण करती हुई कैसे बह रही है।

११. छः इन्द्रियों और उनके छः विषयों के आधार पर छः प्रकार की चेतना (संज्ञा, Consciousness) उत्पन्न होती है; और प्रत्येक तीन के लिए अलग अलग स्पर्श उत्पन्न होता है; जहाँ से स्मृति इच्छा व कर्म प्रवृत्त होते हैं।

१२. जैसे सूर्यकान्त-मणि जलावन और सूर्य का संयोग होने के कारण अग्नि उत्पन्न होती है, वैसे ही व्यक्ति पर अवलम्बित सब कर्म भी बुद्धि (Cousciousness), इन्द्रियों और विषयों के आधार पर होते हैं।

१३. जैसे बीज से अङ्कुर पैदा होता है और तो भी अंकुर का तादात्म्य बीज से नहीं होता और दो में से कोई एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता, वैसे ही शरीर इन्द्रियों और चेतना का पारस्परिक सम्बन्ध है।"

१४. जब मगध-राज ने मुनि-वर का परमार्थ-पूर्ण नैष्ठिक उपदेश सुना, तब उसमें निर्मल विरज एवं अद्वितीय धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

१५. मुनि का उपदेश सुनकर मगध की राजधानी में रहनेवाले बहुत-से लोग तथा स्वर्ग के निवासी देवगण भी उस सभा में विशुद्ध-चित्त होकर अक्षर व अमर पद को प्राप्त हुए।

बुद्धचरित महाकाव्य का "अनेक शिष्य" नामक
सोलहवाँ सर्ग समाप्त।

सत्रहवाँ सर्ग

महाशिष्यों की प्रव्रज्या

१. तब (मगध के) राजा ने मुनि के रहने के लिए उज्ज्वल वेणुवन भेंट किया, और उनकी अनुमति से नगर को लौट गया ; तत्त्व को समझकर वह बिल्कुल ही बदल गया था ।

२. तब ज्ञान से उत्पन्न शुभ प्रदीप को निर्वाण के लिए धारण करते हुए बुद्ध, ब्रह्मा देवों और विविध लोकों के आर्यों के साथ, विहार में रहने लगे ।

३. तब अश्वजित्, जिसने इन्द्रियरूपी घोड़ों का दमन कर लिया था, भिक्षा की खोज में राजगृह आया और अपने सौन्दर्य शान्ति एवं आकृति से (लोगों की) एक बड़ी भीड़ की आँखें आकृष्ट कीं ।

४. कपिल-सम्प्रदाय के बहुत शिष्योंवाले शारद्वतीपुत्र नामक संन्यासी ने उस शान्तेन्द्रिय को आते देखा और सड़क पर उसका अनु-सरण करते हुए उसे यो कहा:—

५. "आपकी अभिनव आकृति एवं शान्ति देखकर मेरा चित्त अत्यन्त विस्मित है । यदि आप तत्त्व को जानते हों तो कहिए ; आपके शिक्षक का क्या नाम है, वह क्या सिखाते हैं और वह कौन हैं ?"

६. जब ब्राह्मण ने इस तरह सम्मानपूर्वक पूछा, तब अश्वजित् ने भी उसे कहा:—"मेरे गुरु इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए थे, वे सर्वज्ञ एवं अद्वितीय हैं ।

७. मैं अज्ञानी हूँ और हाल ही में धर्म की शरण आया हूँ, अतः आपको (बुद्ध की) शिक्षा बताने में असमर्थ हूँ। तो भी वक्ता-श्रेष्ठ महामुनि के वचनों का थोड़ा-सा ही अंश सुनिये।

८. "भगवान् ने कारणों से होनेवाले सब पदार्थों (= धर्मों) की व्याख्या की है। उन्होंने निरोध और निरोध-मार्ग की व्याख्या की है।"

९. अश्वजित् के ये शब्द सुनते ही उपतिष्य (शारद्वतीपुत्र) नामक द्विज की आँखें धर्म में खुल गईं और निर्मल सुखमय व पवित्र हो गईं।

१०. पहले उसका मत था कि क्षेत्रज्ञ, अकृत अकर्मशील और ईश्वर है ; सब चीजें कारणों के आश्रय से होती हैं—यह सुनकर उसने जाना कि आत्मा नहीं है और उसने तत्त्व को देखा।

११. उसने समझा था कि सांख्य के अनुसार शरीर अवयवों का बना होता है और इसलिए स्थूल दोषों का ही नाश होता है ; किन्तु बुद्ध की शिक्षा के अनुसार स्थूल एवं सूक्ष्म (दोषों) का समान रूप से नाश होता है।

१२. आत्मवाद मानने पर अहंवाद का परित्याग नहीं होता और इसलिए "अहं" रहता है। जब प्रदीप एवं सूर्य दोनों रहें, तब प्रकाश-विनाश का कारण (भला) क्या हो सकता है ?

१३, १४. जैसे कमल के मूल काटने पर सूक्ष्म तंतु एक दूसरे से उलझे रहते हैं वैसे ही उसने सांख्य-मार्ग को नैष्ठिक नहीं समझा, जब कि बुद्ध-मार्ग पत्थर काटने के समान है (पत्थर काटने से टुकड़े अलग अलग हो जाते हैं, एक दूसरे से लगे नहीं रहते हैं)।

१५. तब ब्राह्मण ने अश्वजित् को प्रणाम किया और स्वयं अत्यन्त संतुष्ट होकर घर के लिए प्रस्थान किया, और क्रम से अपना भिक्षाटन पूरा करके गम्भीरता एवं बुद्धिमत्तापूर्वक वेणुवन की ओर चला।

१६. उपतिष्य को इस तरह परम प्रसन्न होकर लौटते देखकर मौद्गल्यायन ने, जिसके कर्म उसकी विद्या एवं ज्ञान के अनुरूप थे, उससे कहा:—

१७. "हे संन्यासिन्, (स्वयं) वही होते हुए आप दूसरे-जैसे क्यों हो गये ? आप धीर और प्रसन्न होकर लौटे हैं। क्या आज आपने अमर पद (अमृत) पा लिया ? यह ऐसी शान्ति अकारण नहीं।"

१८. तब उसे तत्त्व बताते हुए उसने कहा "यह ऐसे होता है।" तब उसने कहा "मुझ से शास्त्र कहिये।" इसपर उसने वे ही वचन उससे फिर कहे। उन्हें सुनकर उसमें भी सम्यक् दृष्टि उत्पन्न हुई।

१९. कर्मों और आशयों (?) से उनके चित्त पवित्र हो जाने के कारण उन्होंने तत्त्व को हाथ में रखे दीप के समान देखा, और इसे जानने के कारण गुरु के प्रति उनके भाव अविचल थे, अतः उसी क्षण वे उन्हें देखने के लिए चले।

२०. शिष्यों के साथ आते उन दोनों को दूर ही से देखकर महामुनि भगवान् ने भिक्षुओं से कहा:—"यहाँ आ रहे ये दोनों मेरे प्रधान शिष्य हैं, उनमें से एक ज्ञानी है और दूसरा दिव्य शक्तिवाला।"

२१. तब शान्त ऋषि ने गम्भीर स्वर में उन दोनों से कहा:— "शान्ति के लिए यहाँ आये हुए भिक्षुओ, इस धर्म को ठीक-ठीक उचित रीति से ग्रहण करो।"

२२. ज्यों ही तथागत ने ये वचन उनसे कहे कि त्रिदण्डी और जटाधारी ब्राह्मण बुद्ध के प्रभाव से काषायधारी भिक्षु बन गये।

२३. इस तरह (काषाय) वस्त्र-युक्त होकर उन दोनों ने अपने शिष्यों के साथ शिर नवाकर सर्वज्ञ को प्रणाम किया। तब बुद्ध ने उन्हें धर्मोपदेश किया और वे दोनों काल-क्रम से नैष्ठिक पद पर पहुँचे।

२४. तब काश्यप-कुल के प्रदीप-स्वरूप एक ब्राह्मण ने, जो वर्ण रूप व धन से युक्त था, अपनी सम्पत्ति एवं सुन्दर पत्नी का परित्याग किया, और वह काषाय वस्त्र पहनकर निर्वाण की खोज में चला।

२५. उस सर्वस्व-त्यागी ने ब्रह्मपुत्रक चैत्य के समीप उत्तम सोने के बने पवित्र पताका-दण्ड के समान चमकते सर्वज्ञ को देखा ; और विस्मित हो, हाथ जोड़, उनके समीप गया।

२६. उसने दूर ही से शिर नवाकर मुनि को प्रणाम किया, और हाथ जोड़कर उचित रीति से ऊँची आवाज में कहा—"मैं शिष्य हूँ, भगवान् मेरे गुरु हैं, हे धीर, अंधकार में मेरा प्रकाश बनिये।"

२७. "(ज्ञान की) चाह उत्पन्न होने के कारण यह द्विज आया है, यह विशुद्धाशय एवं निर्वाण का इच्छुक है," ऐसा जानकर वाणी रूपी जल से चित्त को शान्त करनेवाले तथागत ने उसे कहा—"स्वागत"

२८. इन अक्षरों से उसकी थकावट मानो चली गई; नैष्ठिक पद की खोज करने के लिए वह वहाँ रहने लगा। उसका स्वभाव शुद्ध था, इसलिए मुनि ने उसके ऊपर कृपा की और संक्षेप में उसके लिए धर्म की व्याख्या की।

२९. मुनि ने संक्षेप में ही धर्म की व्याख्या की और उसने अभि-

प्राय बिलकुल समझ लिया, अतः अपनी बुद्धि एवं विख्याति के कारण वह "अर्हत् महाकाश्यप" कहलाया ।

३०. उसने पहले समझा था कि आत्मा "मैं" और "मेरा" दोनों ही है, और शरीर से भिन्न होते हुए भी शरीर में है । अब उसने आत्म-दृष्टि का परित्याग किया और इसे शाश्वत (नित्य) दुःख समझा ।

३१. उसने पहले शील-व्रत द्वारा पवित्रता पाना चाहा था और जो कारण नहीं, उसे कारण समझा था ; अब उसने दुःख का स्वभाव समझा और वह मार्ग पर आया, और शील-व्रत को श्रेष्ठ मार्ग नहीं माना ।

३२. वह कुमार्ग पर भटका था और श्रेष्ठ मार्ग नहीं पा सका था ; अब उसने चार सत्यों का क्रम देखा और संशय-शङ्काओं को सर्वथा काट डाला ।

३३. उन काम-वासनाओं की—जिनके बारे में संसार ने मूढ़ता (मोह) की है, करता है और करेगा—अपवित्रता एवं असारता देख-कर, उसने कामनामक इन्द्रिय-विषयों को छोड़ा ।

३४. मानसिक मैत्री प्राप्त कर उसने मित्र और शत्रु में भेद नहीं किया और सब जीवों पर दया करता हुआ वह मन के भीतरी द्वेष (= व्यापाद) से भी मुक्त हो गया ।

३५. रूप और इसके प्रतिघातों पर आश्रित विविध संज्ञाओं को उसने छोड़ा और रूप में रहनेवाली बुराइयों को समझा ; इसलिए उसने रूप-धातु की आसक्ति को जीता ।

३६. उसने पहचाना कि अरूप देवों की, जो मोहवश ध्यान को ही निर्वाण समझते हैं, अवस्था अनित्य है; शान्त होकर उसने निमित्त-

---

३१—शीलव्रत = क्रिया-कर्म, बाहरी आचार ।

शून्य चित्त प्राप्त किया और अरूप-भव की आसक्ति छोड़ी।

३७. उसने अनुभव किया कि महानदी (=सिन्धु) की बलवती धारा के समान बहते हुए चित्त की चञ्चलता विघ्न का मूल है; वीर्य के सहारे आलस्य छोड़कर उसने शान्ति प्राप्त की और वह पूर्ण (निर्मल?) सरोवर के समान निश्चल हो गया।

३८. उसने जीवन को असार अनात्म और नाशवान् (=व्ययधर्मा) देखा; किसी को छोटा बड़ा या बराबर नहीं देखते हुए उसने मिथ्याभिमान छोड़ा; ...।

३९. ज्ञानरूपी अग्नि से अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर, उसने नित्य और अनित्य को (एक दूसरे से) भिन्न देखा और योगद्वारा अपनी विद्या को पूर्ण कर, उसने अविद्या को अच्छी तरह काट डाला।

४०. दृष्टि एवं भावना से युक्त होकर, वह दश (संयोजनों, बन्धनों) से मुक्त हुआ और अपना काम पूरा कर, वह शान्तिमय, हाथ जोड़े, बुद्ध को देखता खड़ा रहा।

४१. अपने तीन शिष्यों के साथ—जो तीन विद्याओं के ज्ञाता (=त्रैविद्य) थे, जिन्होंने तीन (आस्रवों) को क्षीण कर दिया था, और जिन्होंने तीन (शील समाधि प्रज्ञा) को भली भाँति प्राप्त कर लिया था—सुगत (तीसरे पर्व के) पूर्ण चन्द्रमा के समान शोभित हुए, जो पन्द्रहवें मुहूर्त में तीन ताराओंवाले उस (ज्येष्ठा) नक्षत्र से युक्त हो, जिसका अधिपति (=अधिदेव) अनुज देव (इन्द्र) है।

बुद्धिचरित महाकाव्य का "महाशिष्यों की प्रव्रज्या" नामक सत्रहवाँ सर्ग समाप्त।

४१—काम-आस्रव, भव-आस्रव और अविद्या-आस्रव।

अठारहवाँ सर्ग

अनाथपिण्डद की दीक्षा

१. तब एक बार उत्तर की ओर से कोशल देश से एक धनी गृहपति आया। उसे गरीबों को धन देने की आदत थी। उसका प्रसिद्ध नाम सुदत्त था।

२. उसने सुना "ऋषि यहीं रहते हैं" और यह सुनकर उसने उन्हें देखना चाहा और रात में उनके समीप गया। उसने सुगत को प्रणाम किया। वह विशुद्धस्वभाव होकर आया है, यह जानकर उन्होंने उसे उपदेश दिया:—

३. "हे मनीषी, धर्म की प्यास से नींद छोड़कर रात में तुम मेरा दर्शन करने आये हो, इसलिए इस प्रकार आये हुए मनुष्य (=तथा-गत) के लिए नैष्ठिक पद का प्रदीप ऊपर उठाया जाय।

४. (तुम में) ये जो सद्गुण दिखाई पड़ते हैं इसका कारण है तुम्हारा (शुद्ध) आशय, तुम्हारा धैर्य, मेरे विषय में सुनकर (उत्पन्न) हुई तुम्हारी श्रद्धा और पूर्व-निमित्त द्वारा (शुद्ध) हुई तुम्हारी चित्त-वृत्ति।

५. जो उत्तम (वस्तु) है उसे दान करने से इस लोक में यश होता है और परलोक में फल, यह जानकर तुम्हें धर्म से प्राप्त होनेवाला कोष उचित समय पर भक्तिपूर्ण चित्त से सम्मानपूर्वक दान करना चाहिए।

६. शील ग्रहण कर अपना आचरण ठीक करो ; क्योंकि शील का पालन एवं सम्मान करने से अधम अधःलोकों का भय जाता रहता है और मनुष्य को ऊपर के स्वर्गों की प्राप्ति अवश्य होती है।

७. कामासक्तियों में होनेवाले अन्वेषण आदि के दुष्परिणामों को देखते हुए और त्याग-मार्ग के सुपरिणामों का अनुभव करते हुए, विवेक से उत्पन्न होनेवाली सच्ची शान्ति में लगो।

८. मौत व बुढ़ापे की पीड़ा के रहते संसार भटक रहा है, यह ठीक ठीक देखकर जन्म-मुक्त शान्ति के लिए यत्न करो और जन्म के अधीन नहीं होने से वह (शान्ति) बुढ़ापे व मौत से (भी) रहित है।

९. जैसे यह जानते हो कि अनित्यता के कारण लोगों को हरदम दुःख होता है, वैसे ही जानो कि देवताओं को (भी) वही दुःख है। प्रवृत्ति में कुछ भी नित्यता नहीं है।

१०. जहाँ अनित्यता है, वहाँ दुःख है;......। तब जो (धातु अर्थात् धातुओं से बना शरीर) अनित्य दुःखय एवं अनात्म है, उसमें "मैं" या "मेरा" कैसे हो सकता है ?

११. इसलिए इस दुःख को दुःख, इसकी उत्पत्ति (= समुदय) को उत्पत्ति, दुःख-निरोध को निरोध (= व्युपशम) और शुभ मार्ग को मार्ग समझो।

१२. इस जगत् को दुःखमय एवं अनित्य जानो और मानव-जाति को, कालरूपी आग से, जैसे असली आग से, बिलकुल दग्ध देखकर, तुम अस्तित्व एवं विनाश को समान रूप से अवांछनीय समझो।

८—जन्म-मुक्त शान्ति = वह शान्ति जिसकी प्राप्ति होने पर फिर जन्म नहीं होता है। "न जायते शान्तिमवाप्य भूयः"—सौ० सोलह ५।

१०—धातु के लिए देखिये—सौ० सोलह ४७-४८।

१३. इस जगत् को शून्य, "मैं" या "मेरा" से रहित, माया-सदृश जानो और इस शरीर को संस्कारों (उत्पादकों, वस्तुओं) का परिणाम-मात्र विचारते हुए, इसे केवल तत्त्वों (= धातुओं) का बना हुआ समझो।

१४. अनित्य जीवन से अपने मन को मुक्त करो और संसार में विविध योनियों को देखते हुए, भावना-द्वारा अपने चित्त को वितर्क-रहित शान्ति-परायण और राग-मुक्त (= विराग, विरज) करो। तब 'अनिमित्ति' का अभ्यास करो।"

१५. तब महर्षि का धर्म सुनकर उसने धर्माचरण का प्रथम फल पाया ; और इसकी प्राप्ति होने से दुःखरूपी महासागर में से केवल एक बूँद उसके लिए रह गई।

१६. गृहस्थ होते हुए भी उसने ज्ञानद्वारा श्रेय और तत्त्व (वास्तविक सत्य) का अनुभव किया जो अज्ञानी के लिए (सुलभ) नहीं है, चाहे वह तपोवन में हो या स्वर्ग में, चाहे वह तृष्णा-रहित मनुष्यों के झुण्ड (= वितृष्ण-वन) में रहता हो या अरूप लोक के शिखर पर।

१७. विविध मिथ्या दृष्टियों के जाल से तथा संसार के दुःखों से मुक्त नहीं होने के कारण वे अतत्त्वदर्शी नष्ट होते हैं और केवल राग-रहित होनेवाले ही विशेष पद पर पहुँचते हैं।

१८. अपने में सम्यक् दृष्टि उत्पन्न होने पर उसने कुदृष्टियों का वैसे

१४—अनिमित्त = निर्वाण—अ० को ८, ४४।

१८—प्रवृत्तिदुःखस्य च तस्य लोके तृष्णादयो दोषगणा निमित्तं।
नैवेश्वरो न प्रकृतिर्न कालो नापि स्वभावो न विधिर्यदृच्छा॥
—सौ० सोलह १७।

ही त्याग किया जैसे शरद्‌ऋतु का मेघ पत्थरों की झड़ी लगावे और ईश्वर आदि मिथ्या कारणों से संसार उत्पन्न होता है या यह (संसार) कारण-रहित है, ऐसा उसने नहीं माना ।

* १९. क्योंकि यदि (—परिणाम से) कारण भिन्न प्रकार का है, तब उत्पत्ति (= उपपत्ति) नहीं हो सकती ; और कारण नहीं है, (ऐसा मानना) भारी भूल है । इन बातों को विद्या (= श्रुत) एवं ज्ञान द्वारा क्रमशः जानकर वह तत्त्व का दर्शन करने में अवश्य ही संशय-रहित था ।

२० यदि ईश्वर संसार को पैदा करता तो, इसमें व्यवस्थित कार्य-पद्धति नहीं होती और लोग भव-चक्र में नहीं भटकते ; जिस किसी योनि में जो जन्म लेता वह वहीं रहता ।

२१. देहधारी प्राणियों को अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं होता और न उनके लिए इच्छित वस्तु की ही उत्पत्ति होती । जो कुछ भला-बुरा (= शुभाशुभ ?) देह-धारियों को होता वह ईश्वर होने के कारण ईश्वर में (भी) होता ।

२२. लोगों को ईश्वर के प्रति कुछ संदेह नहीं होता और वे उसके प्रति पिता की तरह स्नेह अनुभव करते । अपने ऊपर विपत्ति आने पर वे उसे बुरी बातें नहीं कहते, और संसार भाँति भाँति के देवताओं की पूजा नहीं करता ।

२३. यदि उसकी सृष्टि में कोई सङ्कल्प (अभिप्राय) है, तो वह आज यहाँ ईश्वर नहीं; क्योंकि (तब) यह (सृष्टि) सङ्कल्प का परिणाम होता (ईश्वर का नहीं) । यदि सङ्कल्प की निरन्तर कार्यशीलता मानी जाय, तो वही (सङ्कल्प) ईश्वर होने का कारण होगा ।

२४. या यदि यह सृष्टि किसी सङ्कल्प से प्रवृत्त नहीं होती है, तो उस (ईश्वर) के काम बच्चे के से कारण-रहित हैं और यदि ईश्वर को अपने पर अधिकार नहीं, तो उसे संसार पैदा करने की ही क्या शक्ति ?

२५. यदि वह स्वेच्छानुसार लोगों से दुःख-सुख अनुभव कराता है, तब किसी वस्तु में आसक्ति या उससे विमुखता उस (ईश्वर) को होती है और इसलिए अधिकार उसमें नहीं (बल्कि वस्तु में) रहता है।

२६. लोग विवश होकर उसके अधीन होते और कार्यों का उत्तरदायित्व उसी पर होता। देहधारी के द्वारा कुछ भी नहीं किया जाता और कर्म-फल होता ही नहीं। कार्य के साथ सम्पर्क (=कर्म-योग) उस (ईश्वर) पर निर्भर करता।

२७. यदि अपने कार्यों के कारण वह ईश्वर है, तब (क्योंकि उसके कार्यों में लोगों का भी भाग है, इसलिए) वह ईश्वर नहीं हो सकता। या यदि वह सर्वव्यापी (=विभु) एवं कारण-रहित है, तब समस्त जगत् का ईश्वरत्व स्थापित होता।

२८. या यदि ईश्वर के कार्य के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य है, तब इसी कारण उसके अतिरिक्त कोई दूसरा शक्तिशाली ईश्वर होगा। और वह निश्चित (=व्यवस्थित) नहीं कि उसके अतिरिक्त कोई दूसरा (ईश्वर) है ; इसलिए जगत् का कोई ईश्वर नहीं।

२९. ईश्वर को स्रष्टा मानने से उठनेवाली परस्पर-विरोधी बातों को उसने देखा और स्वभाव के सिद्धान्त में भी वे ही दोष वर्तमान हैं।

३०. स्वभाव-वाद, इदंप्रत्ययता (कार्य-कारण] वादी के सिद्धान्तों [= आश्रय] को कुछ हद तक अस्वीकार करता है और कार्य के सम्बन्ध में कारण की कुछ शक्ति नहीं मानता है; किंतु देखा जाता है कि बीज आदि विविध द्रव्यों से परिणाम [फल] पैदा होते हैं, इसलिए स्वभाव कारण नहीं है।

३१. एक कर्ता विविध वस्तुओं का कारण नहीं हो सकता; इसलिए एकात्मक कहा जानेवाला स्वभाव सांसारिक प्रवृत्ति का कारण नहीं।

३२. स्वभाव सर्वव्यापी है, ऐसा प्रतिपादित किया जाता है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कोई परिणाम पैदा नहीं कर सकता; और ··· ··· इसलिए स्वभाव उत्पत्ति का कारण नहीं।

३३. क्योंकि यह सर्वव्यापी है, इसलिए कारण होने के कारण इसे सब चीजों का निरन्तर सार्वभौम कारण होना चाहिए; किंतु फल के सम्बन्ध में (कारण के) व्यापार में हम एक सीमा देखते हैं, इसलिए स्वभाव उत्पत्ति का कारण नहीं।

३४. यह स्थापित होता है कि यह निर्गुण है, इसलिए इसका फल निर्गुण होना चाहिए; किंतु संसार में सब चीजों को हम सगुण देखते हैं, इसलिए स्वभाव सांसारिक प्रवृत्ति का कारण नहीं।

३५. शाश्वत कारण होने से इसमें कुछ विशेषता (=विशेष) नहीं हो सकती, इसलिए इसके फल (= विकार) में भी कोई विशिष्ट गुण नहीं हो सकता; और क्योंकि फल में विशिष्ट गुण पाये जाते हैं, इसलिए स्वभाव से उत्पत्ति नहीं।

३६. स्वभाव उत्पादात्मक है, इसलिए फल के सम्बन्ध में नाश होने का कोई कारण स्थापित नहीं होता है ; और क्योंकि फल का विनाश हम देखते हैं, इसलिए हमें मानना होगा कि कारण कुछ और ही है।

३७. (पुनर्जन्म करने की) शक्ति के साथ सम्पर्क रहने के कारण नैष्ठिक मोक्ष चाहनेवाले यतियों को कुछ प्राप्त नहीं होता है ; क्योंकि, मनुष्य के स्वभाव का गुण है प्रवृत्ति, इसलिए परलोक में जाने के अतिरिक्त वे यति मुक्त कैसे हो सकते हैं ?

३८. यदि स्वभाव की विशेषता है उत्पत्ति, तब इसके फलों की भी समान रूप से वही विशेषता होगी, किंतु इस संसार में फलों के बारे मे हमेशा यह बात नहीं होती है ; इसलिए स्वभाव उत्पादक नहीं है।

३९. कहते हैं कि स्वभाव का कार्य चित्त (?) के लिए व्यक्त नहीं है, तो भी इसके फल व्यक्त बताये जाते हैं। इसलिए स्वभाव प्रवृत्ति का कारण नहीं है ; क्योंकि यह निश्चित है कि संसार में कोई (व्यक्त) फल उसी कारण से निकल सकता है, जो समान रूप से व्यक्त है।

४०. अचेतन स्वभाव के परिणाम घोड़े बैल खच्चर आदि चेतन प्राणी नहीं हो सकते ; क्योंकि अचेतन कारणों से कोई चेतन उत्पन्न नहीं हो सकता।

४१. जैसे सुवर्ण-हार (सुवर्ण का) विशिष्ट रूप है, वैसे ही स्वभाव के फल (=विकार) विशिष्ट रूप हैं ; और क्योंकि फल तो विशिष्ट रूप है जब कि कारण विशिष्ट रूप नहीं है, इसलिए स्वभाव को उत्पादन-शक्ति नहीं है।

४२. यदि काल (समय) को संसार का ईश्वर माना जाय, तो (मुक्ति की) खोज करनेवालों के लिए मुक्ति नहीं। क्योंकि संसार का कारण शाश्वतरूप से उत्पादक होगा, जिससे मनुष्यों का अन्त होगा ही नहीं।

४३. ... ...

*४४–४६. ... ...

४७. यदि कार्य के विषय में मनुष्य (=पुरुष) कारण होता, तो अवश्य ही सब किसी को इच्छित वस्तु मिल जाती ; तो भी इस जगत् में कुछ इच्छाएँ अपूर्ण ही रह जाती हैं और लोग विवश होकर वही पाते हैं जो वे नहीं चाहते।

४८. यदि अपने वश की बात होती, तो मनुष्य स्वयं बैल, घोड़ा खच्चर या ऊँट होकर उत्पन्न नहीं होता ; क्योंकि, मनुष्य इच्छित काम करते हैं और दुःख से घृणा करते हैं, इसलिए कौन अपने ऊपर स्वयं दुःख लेता ?

४९. यदि संसार में मनुष्य कर्ता होता, तो निश्चय ही वह अपने लिये प्रिय करता, अप्रिय नहीं; तो भी इच्छाओं की पूर्ति करने में चाहा और अनचाहा (इष्ट और अनिष्ट) दोनों ही किये जाते हैं, और यदि वह ईश्वर होता, तो कौन (स्वयं) अनचाहा करता ?

*५०. मनुष्य अधर्म से डरता है और धर्म (शुभ) प्राप्त करने के लिए यत्न करता है, तो भी विविध दोषों द्वारा वह विवश (बेचारा) पथभ्रष्ट किया जाता है ; इसलिये इस विषय में मनुष्य परतन्त्र है।

४४–४६—तीनों श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। इनमें तत्कालीन सांख्य मत का खण्डन किया गया है।

*५१. मनुष्य स्वतंत्र नहीं, किंतु परतंत्र है ; क्योंकि हम देखते हैं कि सर्दी गर्मी वर्षा वज्र व बिजली के परिणाम उसके उद्योगों को विफल करते रहते हैं। अतः मनुष्य कार्यों का ईश्वर नहीं है।

५२. क्योंकि, मिट्टी व पानी के सहारे तथा उचित ऋतु के संपर्क (योग) से अन्न पैदा होता है, और अग्नि काठ से उत्पन्न होती है और घी पाकर प्रदीप्त होती है, इसलिए अस्तित्व को कारण-रहित कहना ऐसा कारण का अभाव नहीं है।

५३. यदि सांसारिक प्रवृत्ति अकारण होती तो मनुष्यों द्वारा कुछ काम नहीं होता। सब किसी को सब कुछ मिल जाता और ध्रुव है कि इस संसार में सार्वभौम सिद्धि होती।

*५४. यदि दुःख-सुख अकारण होता, तो प्रत्येक को दुःख-सुख का भाग नहीं मिलता, और कारण के विना दुःख-सुख बोध-गम्य होता ही नहीं, इसलिए यह जो "कारण-रहित" कहा जाता है कारण नहीं है।

*५५. उसने जाना कि ये और ऐसे ही असदृश कारण सांसारिक प्रवृत्ति के कारण नहीं हैं उसने देखा कि संसार कारण-रहित नहीं है और उसने कारण-रहित होने के ये दोष समझे।

५६. विविध चराचर जीव भी विविध कारणों के आश्रय से उत्पन्न होते हैं ; संसार में कुछ भी कारण-रहित नहीं है, तो भी संसार सार्वभौम कारण को नहीं जानता है।

५७. यह सुन्दर दान पाकर, सुदत्त ने आर्यधर्मा महर्षि के सद्धर्म को समझा और श्रद्धा में अविचलचित्त हो उनसे ये वचन कहे :—

५८. "मेरा निवास श्रावस्ती नगर में है, जो धर्म के लिए विख्यात है और जहाँ हर्यश्व-वंश का अंकुर शासन करता है। वहाँ मैं आप के

लिए एक विहार बनाना चाहता हूँ ; आप कृपा-पूर्वक उस अनवद्य एवं उत्तम निवास को स्वीकार करें ।

५९. हे ऋषि, आप राज-महल में रहें या निर्जन वन में—इस ओर से आप उदासीन हैं, यद्यपि मैं यह जानता हूँ, तो भी, हे अर्हत्, मेरे ऊपर करुणा करके आप इसे निवास के लिए स्वीकार करें ।"

६०. तब उन्होंने जाना कि वह देना चाहता है और उसका मन मुक्त है, अतः आशय जाननेवाले निर्मल-चित्त मुनि ने परम शान्ति-पूर्वक अपना आशय कहा :—

६१. "(यद्यपि) तुम बिजली की भाँति चञ्चल सम्पत्ति-राशि के बीच (रहते) हो, (तो भी) तुम्हारा निश्चय दृढ़ है और तुम देने पर तुले हुए हो । तब इसमें आश्चर्य नहीं कि तुम सत्य को देखो, क्योंकि धर्म में तुम्हें स्वभावतः आनन्द आता है और दान देने में प्रसन्नता होती है ।

६२. जलते हुए घर से जो चीजें निकाली जाती हैं वे जलती नहीं (बच जाती हैं), उसी प्रकार कालरूपी अग्नि से जलते हुए संसार में मनुष्य जो कुछ दान करता है वह उसे लाभ होता है ।

६३. इसलिए उदारहृदय पुरुष दान को असली (=सम्यक्) विषयोपभोग समझते हैं । किंतु कृपण मनुष्य धन-क्षय का डर देखकर दान नहीं करते, इस डर से कि कहीं उपभोग के लिए उन्हें कुछ न बचे ।

६४. उचित समय पर सत्पात्र को धन देना वीरता व अभिमान पूर्वक युद्ध करने के समान है । जिस मनुष्य का निश्चय श्रेष्ठ है वह यह

जानता है, किंतु दूसरे नहीं, और केवल वही दान देता है और निश्चय पूर्वक युद्ध करता है।

६५. क्योंकि जो दान देने में आनन्दित होता हुआ संसार-यात्रा करता है वह दाता है और दान-द्वारा यश एवं सुनाम प्राप्त करता है, अतः उसकी उदारता के लिए सज्जन उसका सम्मान करते हैं और उसकी सङ्गति करते हैं।

६६. इस तरह वह संसार में सुखी है और दीर्घ दुःख के अभाव से पाप में नहीं पड़ता। क्योंकि वह सत्कर्म करने का सच्चा दावा करता है, इसलिए वह सदा प्रसन्न रहता है और मरते समय भय-भीत नहीं होता।

६७. इस लोक में दान का फल कुछ फूल हो सकता है, किंतु परलोक में वह (दानी) दान का पारितोषिक पाता है। संसार-चक्र में घूमनेवाले मनुष्य के लिए दान के समान दूसरा मित्र नहीं।

६८. जो (दानी) मर्त्यलोक या स्वर्ग में जन्म लेते हैं, वे अपने दान के कारण बराबरीवालों से ऊँचा पद पाते हैं ; जो लोग घोड़े या हाथी होकर उत्पन्न होते हैं, वे भी (घोड़ों या हाथियों के) प्रधान होकर दान का फल पाते हैं।

६९. दानद्वारा उसे स्वर्ग प्राप्त होता है, उपभोग उसे घेरे रहते हैं और शील उसकी रक्षा करता है। जो मनुष्य शान्त है और स्वयं समझ-बूझकर (= ज्ञानपूर्वक) चलता है, वह स्वतंत्र (= निराश्रय) है और बहु-संख्यक मनुष्यों के मार्ग से नहीं जाता।

७०. अमृत पाने के लिए भी वह उदारता का आचरण करता है और दान की बात सोचने में (=स्मृ) उसे आनन्द आता है ; उस आनन्द के कारण अवश्य ही उसका चित्त एकाग्र हो जाता है।

७१. मानसिक एकाग्रता की इस सफलता (=समुदय) से वह धीरे धीरे जन्म व निरोध का ज्ञान प्राप्त करता है ; क्योंकि दूसरों को दान देने से दाता के हृदय में रहनेवाले दोष क्षीण हो जाते हैं।

७२. कहा जाता है कि दाता दान दी जानेवाली वस्तुओं से आसक्ति पहले ही अलग करता है ; और क्योंकि वह सस्नेह चित्त से दान करता है, इसलिए वह क्रोध व अभिमान का परित्याग करता है।

७३. जो दाता (दान) पानेवाले का आनन्द देखकर प्रसन्न होता है और इसलिए कृपण नहीं है और जो दान-फल का चिन्तन करता है, उसकी अश्रद्धा (=नास्तित्व) व अज्ञानरूपी अन्धकार (=तमस्) नष्ट हो जाते हैं।

७४. इसलिए दान देना निर्वाण (-साधना) का एक अङ्ग है, क्योंकि इसके द्वारा वह लोभ जीता जाता है, अनार्य जिसका आश्रय लेते हैं और वह तृष्णा जीती जाती है, जिसके द्वारा दान देने की आदत नष्ट होती है ; क्योंकि इस (दान देने की आदत) के होने पर दोषों के विनाश से निर्वाण होता है।

७५. जैसे कुछ लोग छाया के लिए पेड़ पसन्द करते हैं, कुछ लोग फल के लिए और कुछ लोग फूल के लिए, वैसे ही कुछ लोग शान्ति के लिए अपने को दान देने में लगाते हैं, तो दूसरे लोग सम्पत्ति के लिए।

७६. इसलिए खास कर गृहस्थ लोग द्रव्य-सञ्चय नहीं करते, किंतु अपने साधन के अनुसार दान देते हैं ; और क्योंकि दान देना ही असार

सम्पत्ति का सार है (अर्थात् दान देने ही से सम्पत्ति का कुछ मूल्य होता है), अतः सज्जनों के चलने का यही मार्ग है।

७७. भोजन देनेवाला बल देता है, वस्त्र देनेवाला भी सौन्दर्य देता है, किंतु जो धर्मात्माओं को निवास देता है वह संसार में सब कुछ देता है।

*७८. सवारी देनेवाला भी आराम देता है और दीप देनेवाला प्रकाश देता है। अतः जो नैष्ठिक धर्म का उपदेश देता है वह अमर पद देता है, जो छीना नहीं जा सकता, (= अहार्यममृतं पदं)।

७९. कुछ लोग काम (—उपभोगों) के लिए दान देते हैं, दूसरे सम्पत्ति के लिए, तीसरे यश के लिए, कुछ लोग स्वर्ग के लिए और दूसरे कृपण नहीं होने के लिए; किंतु तुम्हारे इस दान का कोई गूढ़ उद्देश्य नहीं है।

८०. इसलिए साधुवाद तुम्हें, जिसकी इच्छा ऐसी (उत्तम) है। अपनी इच्छा पूरी करके सन्तुष्ट हो जाओ। तुम यहाँ काम (= रजस्) व अज्ञानरूपी अन्धकार (=तमस्) के साथ आये थे और यहाँ से ज्ञान द्वारा विशुद्ध-चित्त होकर जाओगे।"

८१. वह, जो कि (उचित) रास्ते से (चलकर) तत्त्व को ठीक ठीक पा चुका था, परम प्रसन्न होकर विहार (बनाने) की बात से हार्दिक अनुराग करने लगा और उचित समय पर उपतिष्य के साथ चल पड़ा।

८२. तब वह कोशल-राज की राजधानी में आया और विहार के स्थान की खोज में इधर उधर घूमने लगा। तब उसने मनोहर वृक्षों से भरा भव्य एवं उपयुक्त जेत-वन देखा।

८३. तब इसे खरीदने के लिए वह जेत के पास गया, जो इसमें इतना आसक्त था कि इसे बेच नहीं सकता था। उसने कहा--"यदि आप द्रव्य से इसे पूरा पूरा ढक भी दें तो भी मैं आपको यह भूमि नहीं लेने दूँगा।"

८४. तब सुदत्त ने उसे वहाँ कहा--"मुझे उपवन की जरूरत है" और इसके लिए आग्रह करने लगा। तब उसने इसे कोष से ढक दिया और इसे धर्म का व्यवहार समझते हुए खरीदा।

८५. जब जेत ने उसे द्रव्य देते देखा, तब वह बुद्ध के प्रति अत्यन्त अनुरक्त हो गया और तथागत के लिए सारा शेष उपवन दे दिया।

८६. तब महर्षि उपतिष्य के साथ, जो निर्माण-कार्य का अध्यक्ष (नवकर्मिक) नियुक्त हुआ, अनाथपिण्डद ने इसे जल्द तैयार करना चाहा और एक विशाल रूपोज्ज्वल विहार बनाना शुरू किया,

८७. जो उसकी सम्पत्ति शक्ति व ज्ञान का मूर्त्त आकार था, पृथिवी पर आये हुए कुबेर-प्रसाद के भी समान था, उत्तर कोशल की राजधानी के सौभाग्य के समान था और तथागतत्व (प्राप्त होने) की भूमि के समान था।

बुद्धचरित महाकाव्य का "अनाथपिण्डद की दीक्षा"
नामक अठारहवाँ सर्ग समाप्त।

उन्नीसवाँ सर्ग

पितापुत्र-समागम†

१. तब अपने ज्ञान से विविध दर्शनों के शिक्षकों को जीतकर मुनि क्रम से पाँच पर्वतों के नगर से (निकलकर) उस नगर की ओर चले जहाँ उनका राजा पिता रहता था।

२. तब हजार भिक्षु भी चले, जिन्हें उन्होंने उसी क्षण प्रव्रजित किया था। वह अपने पिता के राज्य में पहुँचे और उसे अनुगृहीत करने के लिए पितृ-नगर के समीप ठहर गये।

३. लक्ष्य सिद्ध कर आर्य लौट आये हैं, यह आनन्द-प्रद समाचार अपने विश्वस्त गुप्तचरों से सुनकर पुरोहित व बुद्धिमान् मंत्री ने राजा से सविनय निवेदन किया।

४. उनके आने की बात जानकर राजा आनन्दित हुआ और उन्हें देखने की इच्छा से वह सब नागरिकों के साथ चल पड़ा, शीघ्रता में वह साधारण शिष्टाचार (= धैर्य) भी भूल गया।

---

† चीनी त्रिपिटक तथा तिब्बती कन्जुर के अन्तर्गत "रत्नकूट"(अर्थात् रत्नराशि) में ४९ सूत्र हैं, जिनमें एक है ('पिता-पुत्र समागम') अर्थात् पिता शुद्धोदन के साथ शाक्य-मुनि का मिलन। इस सूत्र के कुछ अंश "शिक्षा-समुच्चय" में पाये जाते हैं।

५. उसने कुछ दूर पर उन्हें शिष्यों से घिरा देखा, जैसे ऋषियों के बीच ब्रह्मा बैठा हो ; और महर्षि के धर्म के प्रति आदर-भाव होने के कारण वह रथ से उतर गया और पैदल ही उनके समीप गया ।

६. मुनि को देखकर वह उनके समक्ष घबड़ा गया और कुछ बोल न सका ; क्योंकि वह उन्हें न तो 'भिक्षु' कहकर ही पुकार सकता था और न 'पुत्र' कहकर ही ।

*७. जब उसने उनका भिक्षु-वेष देखा और अपने शरीर पर के विविध आभूषणों का खयाल किया, तब उसकी साँसें तेजी से चलने लगीं, और आँसू बहाते हुए उसने अस्फुट वाणी में विलाप किया :—

८. "उन्हें अपने समीप शान्तिपूर्वक निर्विकार होकर बैठे देखकर मैं पीड़ा से वैसे ही अभिभूत हो रहा हूँ, जैसे प्यास से आकुल पथिक, जो दूरवर्ती जलाशय के समीप जाकर उसे सूखा पावे ।

९. जब कि मैं उनके उसी रूप को देख रहा हूँ, जैसे कोई अपने उस प्रिय जन की चित्रित आकृति को देखे, जो अब भी मन में याद है, किंतु जो आवागमन के अन्त में है, तो मुझे कुछ आनन्द नहीं हो रहा है जैसे (मुझे देखकर) इन्हें कुछ आनन्द नहीं हो रहा है ।

१०. सब पर्वतों से परिवेष्टित पृथ्वी इनकी होनी चाहिए, जैसे कृतयुग में यह मान्धाता की थी; तो भी वह, जिन्हें राजा से भी याचना नहीं करनी चाहिए, अब दूसरों से भीख माँगकर जीते हैं ।

११. वह यहाँ धैर्य में मेरु पर्वत से, दीप्ति में सूर्य से, सौन्दर्य में चन्द्रमा से, गति में गजराज से और वाणी में वृषभ से बढ़कर हैं ; तो भी पृथ्वी जीतने की जगह वह भिक्षा का अन्न खाते हैं ।"

१२. तब बुद्ध ने जाना कि अब भी उनका पिता उन्हें अपने मन में अपना पुत्र समझ रहा है और राजा (=लोकाधिदेव) के ऊपर करुणा करके वह उसके लिए आकाश में उड़ गये।

१३. उन्होंने अपने हाथ से सूर्य का रथ स्पर्श किया और वह पवन-पथ (आकाश) में पैदल चले; उन्होंने अपने एक शरीर को अनेक में परिणत किया और फिर अनेक शरीरों को एक बनाया।

१४. विना किसी बाधा के उन्होंने पृथ्वी में ऐसे अवगाहन किया जैसे पानी में, और पानी की सतह पर ऐसे चले जैसे सूखी भूमि पर; और उन्होंने शान्त होकर पर्वत में प्रवेश किया और उसमें ऐसे निर्बाध होकर चले जैसे आकाश में चल रहे हों।

१५. आधे शरीर से उन्होंने जल बरसाया और आधे से वह ऐसे प्रज्वलित हुए जैसे अग्नि से। गौरवपूर्वक चमकते हुए वह आकाश में ऐसे दिखाई पड़े, जैसे पर्वत पर की उज्ज्वल ओषधियाँ चमक रही हों।

१६. इस तरह उन्होंने राजा के मन में आनन्द उत्पन्न किया, जो उनसे उतना अनुराग करता था, और आकाश में दूसरे सूर्य के समान बैठे हुए उन्होंने नरपति के लिए धर्म की व्याख्या की:—

१७. "हे राजन्, मैं जानता हूँ कि अपनी दयालु प्रकृति के कारण आप मुझे देखकर दुःखी हो रहे हैं। पुत्रवान् होने का आनन्द छोड़िये और शान्त होकर आप मुझसे पुत्र की जगह धर्म ग्रहण कीजिए।

१८. पूर्व में किसी पुत्र ने पिता को जो कभी नहीं दिया पूर्व में किसी पिता ने पुत्र से जो कभी नहीं पाया, जो राज्य अथवा स्वर्ग से भी अच्छा है, हे राजन्, आप उस परम उत्तम अमृत को जानें।

१९. हे भूपति, कर्म का स्वभाव, कर्म की उत्पत्ति-भूमि (=योनि), कर्म का आश्रय और कर्म के विपाक से होनेवाला भाग पहचानिये और जगत् को कर्म के वशीभूत जानिये ; इसलिए वह कर्म कीजिए जो हितकारी है।

२०. जगत् के वास्तविक सत्य (=तत्व) पर विचार कीजिए। सत्कर्म मनुष्य का मित्र है और कुकर्म विपरीत (अर्थात् शत्रु)। (मरते समय) आपको सब कुछ छोड़ना पड़ेगा और निराश्रय हो अकेला ही जाना पड़ेगा, केवल कर्म आपके साथ जायँगे।

२१. स्वर्ग में या नरक में या पशुओं में या मर्त्य-भूमि में जीव-लोक कर्म के आश्रय से चलता है। भव का कारण त्रिविध है, उत्पत्ति-भूमि (=योनि) त्रिविध है और मनुष्यों द्वारा किये जानेवाले कर्म विविध हैं।

२२. इसलिए अपने को सम्यक् रूप से अन्य पक्ष (द्विवर्ग) में लगाइये और शरीर व वाणी के व्यापार (कृत्य) शुद्ध कीजिए। मानसिक शान्ति के लिए यत्न कीजिए। यही आपका लक्ष्य है, दूसरा नहीं।

२३. जगत् को समुद्र-तरंग के समान चञ्चल जानते हुए और इसकी भावना करते हुए आपको (रूप–, अरूप–, व काम–) भव में आनन्द नहीं पाना चाहिए और कर्म-शक्ति क्षीण करने के लिए धार्मिक व श्रेयस्कर कर्म करना चाहिए।

२४. विदित हो कि संसार सदा नक्षत्र-मण्डल के समान घूमता रहता है। अपनी पराकाष्ठा पार करके देवता भी स्वर्ग से गिरते हैं, तब मानवी सत्ता पर कौन कितना भरोसा करे ?

२५. निर्वाण-सुख को परम सुख और आन्तरिक (=अध्यात्म) आनन्द को परमानन्द जानिये। वैभव-सुख साँपवाले घर के समान विपत्तिपूर्ण हैं, यह देखकर कौन आत्मवान् (संयतात्मा) व्यक्ति उनमें आनन्द पायेगा ?

२६. इसलिए इस जगत् को जलते हुए घर के समान विपत्ति-ग्रस्त देखिये और उस पद की खोज कीजिए जो शान्त एवं ध्रुव है, जहाँ न जन्म है न मौत, न श्रम है न दुःख।

२७. दोषों की विपक्षी सेना को पराजित कीजिए, जिसके लिए सम्पत्ति राज्य अस्त्र घोड़े या हाथी की जरूरत नहीं है। एक बार उन्हें जीत लेने पर जीतने के लिए कुछ और नहीं रह जाता है।

२८. दुःख, दुःख-समुदय, (दुःख-) उपशम और उपशम-मार्ग को समझिये। इन चारों को पूर्णतः समझ लेने में महाभय व दुर्गतियों का निरोध होता है।"

२९. सुगत के चमत्कार-प्रदर्शन से राजा का चित्त उपदेश (ग्रहण करने) के लिए उपयुक्त क्षेत्र पहले ही हो गया था, इसलिए अब सुनकर के धर्म प्राप्त करने पर वह रोमाञ्चित हो गया और हाथ जोड़कर उसने ये वचन कहे :—

३०. "आपके कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण और सफल हैं ; क्योंकि आपने मुझे महादुःख से मुक्त किया है। मैं, जो पहले विपत्तिपूर्ण पृथ्वी की प्राप्ति में दुःख-वृद्धि के लिए आनन्द पाता था, अब पुत्रवान् होने के फल में आनन्द पा रहा हूँ।

३१. राज्य-लक्ष्मी का परित्याग कर आप ठीक ही (=स्थाने) चले गये। ठीक ही आपने कठोर श्रम किया और ठीक ही आप प्रिय ने प्रिय स्वजनों को छोड़ा और हमारे ऊपर करुणा की।

३२. आर्त जगत् के हित के लिए आपने यह नैष्ठिक ज्ञान पाया है, जो पूर्व में देवर्षियों या राजर्षियों को प्राप्त नहीं हुआ।

३३. यदि आप चक्रवर्ती सम्राट् होते, तो आप मुझे यह आनन्द नहीं देते जो इस समय मैं, इन चमत्कारों एवं आपके धर्म को देखकर दृढ़तापूर्वक अनुभव कर रहा हूँ।

३४. यदि आप इस जन्म में भी इस जीवन से बँधे रहते, तो चक्रवर्ती होकर आप मानव जाति का पालन करते, किंतु अब मुनि होकर भव-चक्र के महादुःख को तोड़कर आप जगत् के लिए धर्मोपदेश कर रहे हैं।

३५. इन ऋद्धियों एवं गम्भीर ज्ञान का प्रदर्शन कर और भव-चक्र की विपत्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्तकर राज्य के बिना भी आप संसार के ईश्वर हो गये हैं, किंतु राज्य-समृद्धि के रहते हुए भी आप वैसा नहीं होते, यदि आप असहाय होकर भव-चक्र में पड़े रहते।"

३६. शाक्य-राज ने, जो उन करुणामय के धर्मोपदेश (ग्रहण करने) के योग्य हो गया था, ऐसी बहुत सी बातें कहीं और यद्यपि वह राजा और पिता के पद पर था, तो भी उसने अपने पुत्र को प्रणाम किया, क्योंकि वह सत्य में प्रवेश कर चुका था।

३७. बहुत से लोगों को, जिन्होंने मुनि का ऋद्धि-बल पर अधिकार देखा, जिन्होंने तत्त्व में प्रवेश करानेवाले शास्त्र को समझा और जिन्होंने राजा को—उनके पिता को—उनका सम्मान करते देखा, घर छोड़ने की इच्छा हुई।

३८. तब कर्म-फल में स्थित बहुत से राजकुमारों ने उस धर्म-विधि को ग्रहण किया और वैदिक मंत्रों एवं उपभोग के बड़े बड़े साधनों की उपेक्षा करके, रोते हुए प्रिय परिवारों का परित्याग किया।

३९. आनन्द, नन्द, कृमिल, अनिरुद्ध, नन्द, उपनन्द, कुण्ठधान और शिष्यों का मिथ्या शिक्षक देवदत्त भी मुनि का उपदेश पाकर घर से निकल गये।

४०. तब पुरोहित-पुत्र महात्मा उदायी ने उसी मार्ग का अनुसरण किया; और उन लोगों का निश्चय देखकर अत्रि-पुत्र (आत्रेय) उपालि ने भी उसी मार्ग पर चलने का इरादा किया।

४१. अपने पुत्र की शक्ति देखकर राजा ने भी परम अमरत्व की धारा में प्रवेश किया और आसक्ति से विमुख होकर उसने राज्य अपने भाई को सौंपा और (स्वयं) महल में राजर्षि की तरह आचरण करते हुए रहने लगा।

४२. इन तथा अन्य बन्धुओं मित्रों एवं अनुयायियों को विनीत (दीक्षित) कर, बुद्ध ने उचित समय पर, पूरे आत्म-संयम के साथ, नगर में प्रवेश किया, जहाँ रोते हुए पुरवासियों ने उनका सत्कार किया।

४३. राजा के पुत्र सर्वार्थसिद्ध अपना काम पूरा करके नगर में प्रवेश कर रहे हैं, यह समाचार सुनकर महल की स्त्रियाँ द्वारों एवं वातायनों की ओर दौड़ीं।

४४. काषाय वस्त्रधारी होने पर भी उन्हें संध्याकालीन बादल से आधा ढके सूरज के समान चमकते देखकर, स्त्रियों ने आँसू बहाये और अपने कर-कमल जोड़कर उन्हें प्रणाम किया।

४५. उन्हें नीची-निगाह चेहरे से चलते तथा धर्म एवं शरीर-सौन्दर्य से प्रकाशित होते देखकर स्त्रियों ने दया एवं भक्ति प्रकट की और अश्रु-म्लान आँखों से उन्होंने इस तरह विलाप किया:—

४६. "शिर मुड़ाने से व फेंके हुए चिथड़े पहनने से यद्यपि उनका सुन्दर शरीर बदल गया है, तो भी अपने शरीर के सुनहले रंग से वह व्याप्त हैं। वह जमीन की ओर देखते हुए चल रहे हैं।

४७. जो श्वेत आतपत्र के नीचे आश्रय पाने योग्य थे,...,...,
और जो विजेता होने योग्य थे, वह अब भिक्षा-पात्र लिए घूम रहे हैं।

४८. जो घोड़े की पीठ पर उस छाते की छाया के नीचे, जो तमाल-पत्र-युक्त कपोलवाले सुन्दरि-मुख के समान उज्ज्वल हो, सवार होने योग्य थे, वह भिक्षा-पात्र धारण किये हुए पैदल जा रहे हैं।

४९. जो विपक्षी राजकुमारों को विनीत (नम्र) करने योग्य थे और जो उज्ज्वल मुकुट पहनकर स्त्री-समूहों एवं अपने परिचारक-वृन्द द्वारा देखे जाने योग्य थे, वह आगे की ओर केवल जुए की दूरी तक जमीन देखते हुए चल रहे हैं।

५०. यह उनका कैसा दर्शन है, ये कैसे भिक्षु-वेष हैं, कौनसा लक्ष्य वह खोज रहे हैं, सुख उनका शत्रु क्यों हो गया है, कि वह व्रतों में आनन्द पायें, स्त्रियों और बच्चों में नहीं ?

५१. राजा की पुत्र-वधू यशोधरा निश्चय ही शोक से ग्रस्त हुई, तो भी उसने कैसा दुष्कर कर्म किया कि अपने पति के इस आचरण का समाचार सुनकर वह जीती रही और विनाश को प्राप्त नहीं हुई।

५२. रूप के अनुरूप ही चमकती हुई पुत्र की आकृति को, जो अब आभूषण-रहित (= विवर्ण) है, देखकर क्या नरपति भी अपने पुत्र से अनुराग करते हैं या उन्हें हानिकारक शत्रु समझते हैं ?

५३. अश्रु-जल से नहाये हुए अपने पुत्र राहुल को देखकर यदि वह उसमें आसक्त (अनुरक्त) नहीं होते हैं, तो भला कोई क्या सोचे

इन दृढ़ व्रतों के बारे में, जिनके कारण मनुष्य अपने स्नेही स्वजन से विमुख होता है ?

५४. व्रतों के आचरण से न तो उनकी दीप्ति ही नष्ट हुई है, न उनके शरीर का रूप ही और न उनकी गति ही ; और इन गुणों से चमकते हुए उन्होंने शान्ति प्राप्त की है तथा अपने को विषयों से अलग किया है।"

५५. विविध मतावलम्बियों के समान भिन्न भिन्न मत ग्रहण करती हुई स्त्रियों ने इस तरह बहुत विलाप किया। बुद्ध ने भी अनासक्त (कठोर, दृढ़) चित्त से अपने जन्म-नगर में प्रवेश किया और भिक्षा प्राप्त कर वह न्यग्रोध-वन में लौट गये।

५६. तृष्णा-रहित चित्त से तथागत ने अपने पितृ-नगर में भिक्षा के लिए प्रवेश किया था ; और पूर्व में श्रेय नहीं करने से जिनके साधन अल्प थे और जो बहुत कम भीख दे सकते थे उन लोगों को मुक्त करने की, जिन श्रमणों को अपने चित्त पर संयम प्राप्त नहीं हुआ था और जिन्हें (भिक्षाटन के) ऐसे कामों से सन्तोष नहीं होता था उन्हें दृढ़ (समर्थ) करने की, संसार को "तुम्हारा मङ्गल हो" यह कह सकने की, और उसी प्रकार शास्त्रोपदेश करने की अपनी इच्छा उन्होंने याद रक्खी।

बुद्धचरित महाकाव्य का "पितापुत्र-समागम" नामक उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त।



बीसवाँ सर्ग

जेतवन-स्वीकार

१. (कपिलवस्तु में) महा-जनसमूह पर दया दिखाने के बाद (बुद्ध) उस नगर की ओर चले, जो प्रसेनजित् के बाहु-बल से रक्षित था।

२. तब वह उस गौरव-पूर्ण जेत-वन में पहुँचे, जो अशोक के बिखरे फूलों से उज्ज्वल था, मत्त कोकिलों के कूजन से गुञ्जित था और कैलाश के बर्फ के समान उजले घरों की पंक्ति से युक्त था।

३. तब सुवर्ण एवं श्वेत माला से अलंकृत शुद्ध जल-कलश लेकर सुदत्त ने उचित समय पर तथागत को जेतवन भेंट किया।

४. तब शाक्य-ऋषि को देखने की इच्छा से राजा प्रसेनजित् जेतवन की ओर चला। वहाँ पहुँचकर उसने श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम किया और बैठकर उनसे निवेदन किया:—

५. "हे ऋषि, इस नगर में आप ठहरने की इच्छा करते हैं, इसमे निश्चय ही कोशल-निवासियों का सौभाग्य-उदय होगा। क्योंकि क्या वह देश, जो ऐसे तत्वदर्शी के आश्रय से वञ्चित है, चौपट या अभागा नहीं है?

६. आप के दर्शन से और हमारे ऊपर अनुग्रह करने के लिए हमारा प्रणाम आपके द्वारा स्वीकृत होने से हमें वह संतोष हो रहा है जो सज्जनों से मिलने पर भी लोगों को अनुभव नहीं होता है।

७. हवा जिस किसी चीज पर बहती है उसीका गुण (अर्थात् गंध) ग्रहण कर लेती है, और पक्षी, मेरु के सम्पर्क में आकर, अपना स्वाभाविक शरीर खो बैठते हैं और सुवर्ण में परिणत हो जाते हैं।

८. एक साधु पुरुष, जो इहलोक व परलोक के ईश्वर हैं, इसमें ठहरे हुए हैं, इसीलिए मेरा उपवन देखने में वैसा ही गौरवमय है जैसा कि त्रिशंकु का महल, जिसमें महर्षि गाधि-पुत्र (विश्वामित्र) का स्वागत हुआ था।

९. संसार के विविध लाभ अनित्य व विनाशवान् है, किन्तु वे असंख्य चोजें, जो आप के समीप होने से प्राप्त होती हैं, विनाशवान् नहीं हैं।

१०. हे साधु, आपके शास्त्र का दर्शन हो, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लाभ नहीं जाना जाता है। हे शास्ता, मैंने दुःख भोगा है और मैं राग एवं राजधर्म से पीड़ित हुआ हूँ।"

११. मुनि ने इन्द्र-सदृश राजा के ये और ऐसे ही दूसरे वचन कृपापूर्वक सुने और उसे लोभ एवं काम में आसक्त जानकर उसके मन को प्रेरित करने के लिए यों उत्तर दिया:—

१२. "हे राजन्, यह बहुत अचरज की बात नहीं कि आप साधु ··· के प्रति इस तरह कहें या ऐसा व्यवहार करें।

१३. जो लोग नीचे से ··· अपने हितैषी धर्मात्मा (=आर्य) पुरुषों के पास आना चाहते हैं ···।

१४. हे भूपति, मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ, इसलिए कि आपकी मानसिक अवस्था ऐसी है। अतः आप मेरा उपदेश ग्रहण करें और वैसा करें जिससे यह सफल हो।

१५. हे नरपति, जब काल (आप) राजा को बाँधकर खींचेगा, तब न तो स्वजन आपके पीछे जायँगे, न मित्र, न राज्य। सब लोग दुःखी व विवश होकर अलग हो जायँगे। केवल आपके कर्म ही छाया की भाँति आपके साथ जायँगे।

१६. इसलिए यदि आप स्वर्ग व सुयश चाहते हैं, तो धर्मानुसार राज्य की रक्षा कीजिए। क्योंकि मोहवश धर्म को आकुल करनेवाले राजा के लिए स्वर्ग में थोड़ा सा भी राज्य नहीं है।

१७. इस संसार में धर्मानुसार राज्य की रक्षा करनेवाले कुशाश्व ने स्वर्ग प्राप्त किया, जब कि इस संसार में मोहवश धर्म से विमुख रहनेवाले नृपति निकुम्भ ने काशी में पृथ्वी में प्रवेश किया।

१८. हे सौम्य, मैंने भले-बुरे कर्मों का यह दृष्टान्त आपको दिया। अतः अपनी प्रजाओं का सदा अच्छी तरह पालन कीजिए और खूब समझ-बूझकर उचित के लिए दृढ़तापूर्वक यत्न कीजिए।

१९. मनुष्यों को कभी तङ्ग न कीजिए, अपने इन्द्रियों को कभी स्वतन्त्र न छोड़िये, पापियों का सङ्ग या क्रोध न कीजिए, अपने मन को बुरे रास्तों पर न भटकने दीजिए।

२०. अभिमानवश धर्मात्माओं को कष्ट न दीजिए, मित्र-तुल्य तपस्वियों को उत्पीड़ित न कीजिए, पाप के प्रभाव मे रहते हुए पवित्र व्रत मत ग्रहण कीजिए और बुरे विचारों (=कुदृष्टि) में मत पड़िये।

२१. अशुभ का आश्रय न लीजिए, कुकर्मों में आसक्त न होइये, मद से अभिभूत (युक्त) न होइये, अप्रसन्नता या असहिष्णुता से न सुनिये, अपना यश क्षीण न कीजिए या अपना मन असत्य में न लगाइये, शास्त्र-सम्मत अंश से अधिक भूमि-कर न लीजिए।

२२. मन को स्थिर रखिये और धर्म का पालन कीजिए, सज्जनों का सङ्ग कीजिए और···; ऐसा कीजिए जिससे (इस जन्म में) उत्कर्ष प्राप्त कर फिर (जन्मान्तर में) आप उत्तम पद प्राप्त कर सकें।

२३. वीर्य की रक्षा करते हुए, धैर्य रखते हुए, विद्या उपार्जन करते हुए, दोषों को जीतते हुए, मृत्यु को सदा स्मरण करते हुए, आप आर्य-पुरुष का कार्य करें और माहात्म्य-लाभ करके मार्ग प्राप्त करें (=माहात्म्य लाभाद् अधिगच्छ मार्गम्)।

२४. हे मित्र, आपको फिर वह काम करना चाहिए, जिससे इस फल की रक्षा (उत्पत्ति ?) होती है; क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य, जिसने (पूर्व में) यह कर्म किया है, उस बीज को बोता है जिसका फल वह देख चुका है।

२५. इस जगत् में जो मनुष्य ऊँचे पद पर रहकर पाप में आसक्त होता है वह प्रकाश में है, किंतु उसका चित्त अन्धकार में स्थित है; और जो मनुष्य धर्म-रत (=धर्म-प्रधान) रहता हुआ भी मनुष्यों का प्रधान नहीं है वह अंधकार में है किंतु उसका चित्त प्रकाश में है।

२६. जो कोई ऊँचे पद (या कुल) का होकर धर्माचरण करता है, उसका चित्त अत्यन्त विशद हो जाता है, और जो कोई नीच पद (या कुल) का होकर पाप कर्म करता है, उसका चित्त अत्यन्त तमोमय हो जाता है।

२७. इसलिए, हे राजन्, इन चार समूहों का अस्तित्व जानते हुए आपकी जैसी इच्छा हो वैसा यत्न करें; किंतु यदि आप आनन्द-भोग करना चाहते हैं, तो आप अपने को निचली तीन श्रेणियों में पायेंगे, पहली (उत्तम) में नहीं।

२८. किसी भी मनुष्य के लिए दूसरे के खाते कुशल कर्म करना असंभव है, या यदि वह करे भी तो इसका फल दूसरे को नहीं मिलेगा। अपने ही कर्म का फल नष्ट नहीं होता है, किंतु अपने ही द्वारा अनुभव किया जाता है, और जो किया नहीं जाता है उसकी फल-प्राप्ति वास्तविक नहीं मानी जाती है।

२९. क्योंकि जो किया नहीं जाता है (=अकृत है) उसकी शक्ति नहीं है, इसलिए अकृत से परलोक में श्रेय नहीं मिलता है, और क्योंकि इससे जगत् में जन्म-विनाश (=विभव) नहीं होता है, अतः आप अपने को सत्कर्म-मार्ग में लगायें।

३०. उस दुष्ट मनुष्य को, जो अत्यन्त पाप करता है, जीव-लोक में आत्म-सुख नहीं मिलता है। अपने ही खाते पाप करके परलोक में वह निश्चय ही स्वयं फल भोगेगा।

३१. चार महापर्वत, हे महाराज, एक साथ आकर संसार को पीसते हैं, धर्मानुसार यथाशक्ति किये गये विविध कर्मों के आश्रय के विना किया ही क्या जा सकता है?

३२. उसी प्रकार जब जन्म जरा रोग और मृत्यु भी, ये चार, एक साथ आते हैं, तब सारा संसार विवश होकर चक्कर काटता है, जैसे चार पहाड़ों से घिरा हो।

३३. जब यह दुःख हम बेबसों पर आता है और इसके विरुद्ध हमें आश्रय प्रतिरोध-शक्ति या त्राण नहीं मिलता है, तब अव्यर्थ व अक्षय धर्म ग्रहण करने के अतिरिक्त हमारे लिए (दूसरी) कोई ओषधि नहीं।

३४. क्योंकि संसार अनित्य है और बिजली की चमक के समान क्षणिक इन्द्रिय-सुखों में आसक्त है और क्योंकि यह (संसार) मौत की

अँगुली के अग्रभाग पर स्थित है, इसलिए मनुष्य को धर्माचरण नहीं करने का फल नहीं भोगना चाहिए।

३५. वे अनेक नृप, जो महेन्द्र के समान थे, देव युद्धों में लड़े, वे शक्तिशाली और अभिमानी (?) थे, तो भी कालक्रम से वे दुःख के भागी हुए।

३६. सब जीवों को धारण करनेवाली धरती भी नष्ट होती है और मेरु पर्वत प्रलय-अग्नि से जल जाता है ; महासागर सूख जाता है, फिर फेन के समान क्षणिक मर्त्य-लोक की विनाशशीलता का क्या कहना ?

३७. हवा जोरों से बहकर भी बन्द हो जाती है, सूरज जगत् को तपाकर भी अस्त हो जाता है, उसी तरह आग जलकर भी बुझ जाती है : जो कुछ है वह सब, मैं समझता हूँ, ऐसा ही है और परिवर्तनशील है।

३८. यद्यपि इस शरीर का देर तक सावधानीपूर्वक पालन किया जाता है, और विचित्र उपभोगों से लालन किया जाता है, तो भी यह यहाँ... कुछ ही दिनों तक रहनेवाला है।

३९. विदित हो कि संसार की इस अवस्था में लोग, अभिमान एवं मद का पोषण करते हुए, समय पर ऊँची शय्याओं पर सोने के लिए लेटते हैं ; आप उन पर न लेटें, किंतु परम श्रेय के लिये जगे रहें।

४०. भव-चक्र की निरंतर चलती रहती दोला पर संसार चढ़ता है और असावधान रहता है, यद्यपि इस संसार का पतन···निश्चित है।

४१. उसका सेवन न करें जिसका परिणाम प्रिय नहीं होता है, वह न करें जिसका फल बुरा होता है ; वह मित्र मित्र नहीं है जो शुभ से युक्त नहीं है और वह ज्ञान ज्ञान नहीं है जो दुःख दूर नहीं कर सकता।

४२. यदि आपको ज्ञान है, तो आप के लिए पुनर्जन्म नहीं, या यदि जन्म हो भी तो यह अरूप अवस्था में होगा ; यदि आप शरीर-धारण करते रहें, तो आप विषयों से मुक्त नहीं हो सकते, और काम-लोक (= काम-भव) अनित्य एवं अनर्थकारी है ।

४३. क्योंकि कर्म-शक्ति के अधीन होकर अरूप देव भी अस्थायी एवं काल के वशीभूत हैं, अतः अप्रवृत्ति में अपना चित्त लगाइये ; यदि प्रवृत्ति नहीं, तो दुःख नहीं ।

४४. क्योंकि शरीर, जो कि चलना खड़ा होना आदि विविध कार्यों पर आश्रित है, दुःख का मूल है, इसी लिए ज्ञान के होने से—ज्ञान जो कि अरूप अवस्था के होने में सहायक है—शरीररूप ऋण से मुक्ति होती है ।

४५. क्योंकि काम (= वासना) के कारण संसार जन्म लेता है और उसके द्वारा अत्यन्त महादुःख भोगता है, इसलिए जब मनुष्य अपने को काम-भव से अलग (= √विविच्) करेगा, तब वह दुःख में आसक्त न होगा और न पीड़ित होगा ।

४६. इसलिए चाहे अरूप-देवों के बीच या रूप-देवों के बीच, जो कि काम के अधीन हैं ही, पुनर्जन्म की शक्ति (विद्यमान) होने के कारण प्रवृत्ति बन्द नहीं होती है, फिर छः काम-वासनाओं के क्षेत्र में रहनेवालों की प्रवृत्ति कहाँ से बन्द होगी ?

४७. तीन भवों (काम-भव, रूप-भव, अरूप-भव) के इस तरह अनित्य दुःखमय अनात्म और सदा प्रज्वलित होने पर लोगों के घुसने के लिए आश्रय-स्थल नहीं, जैसे कि उन चिड़ियों के लिए (आश्रय-स्थल नहीं) जिनका निवास-वृक्ष जल रहा हो ।

४८. यह परम ज्ञेय है, (इसके अतिरिक्त) और कुछ ज्ञेय नहीं है। यह उत्तम ज्ञान (=मति) है, (इसके अतिरिक्त) और कुछ ज्ञान नहीं है। यह उत्तम कार्य है, (ऐसा)...और कुछ नहीं माना जाता है।

४९. निश्चय ही ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि यह धर्म गृहस्थों के लिए नहीं है। वन में रहता हो या घर में, वास्तव में वही (जीता) है जो शान्ति प्राप्त करता है।

५०. आतप से दग्ध मनुष्य पानी में प्रवेश करता है, बादल से सब किसी को सुख (आराम) मिलता है। जिसे प्रदीप है वह अन्धकार में देखता है। योग प्रमाण है, न कि उम्र (=वयस) या वंश।

५१. कुछ लोग, यद्यपि वे बुढ़ापे में (=वयसि) वन में रहते हैं, योगाभ्यास नहीं कर सकते और व्रत-भङ्ग करके दुर्गति को प्राप्त होते हैं; दूसरे लोग घर में रहकर भी अपने कर्मों को विशुद्ध करते हैं और सावधान (=अप्रमत्त) रहते हुए नैष्ठिक पद प्राप्त करते हैं।

५२. अज्ञान (=तम) रूप सागर में, कुदृष्टियाँ ही जिसकी तरंगें हैं और जन्म ही जिसका जल है, संघर्ष करनेवाले लोगों के बीच केवल वही उस (सागर) से त्राण पाता है, जिसे स्मृति (=जागरुकता) एवं वीर्यरूपी पतवारों से युक्त प्रज्ञारूपी नाव है।"

५३. इस तरह अत्यन्त विषयासक्त राजा ने सर्वज्ञ से यह धर्म-तत्त्व प्राप्त किया और अपने में यह विश्वास उत्पन्न होने पर कि अकुशल राज्य अनित्य एवं चंचल है, वह मद-मुक्त हाथी की तरह गम्भीर होकर श्रावस्ती लौट गया।

५४. भूपति ने उन्हें प्रणाम किया, यह जानकर दूसरे पण्डितों ने (=तीर्थिक) उन दशबल (शास्ता) को दिव्य शक्ति प्रदर्शन करने के लिए चुनौती दी; और जब पृथ्वी-पति ने उनसे वैसा करने के लिए अनुरोध किया, तब संयतात्मा (=जितात्मा) मुनि दिव्य शक्ति दिखाने को राजी हुए।

५५. तब मुनि अपने प्रभा-वर्षी मण्डल के साथ ऐसे चमकने लगे, जैसे सूर्य ताराओं को निष्प्रभ कर रहा हो, और उन्होंने भाँति भाँति की दिव्य शक्तियों द्वारा विविध मतों के शिक्षकों को पराजित करके सबको आनन्दित किया।

५६. तब श्रावस्ती के लोगों द्वारा इस (ऋद्धि-प्रदर्शन) के लिए सम्मानित एवं पूजित होकर वह अनुत्तर महात्म्यपूर्वक (वहाँ से) चल पड़े और अपनी माता के हित के लिए धर्मोपदेश करने के लिए स्वर्ग-लोक (=त्रिविष्टप) के ऊपर चढ़ गये।

५७. तब मुनि ने अपने ज्ञान द्वारा स्वर्ग में रहनेवाली अपनी माता को दीक्षित किया; और वर्षा-ऋतु वहीं बिताकर तथा दिव्य देवों के शासक से उचित रीति से भिक्षा ग्रहण कर वह स्वर्ग-लोक से संकाश्य में उतरे।

५८. देवगण, जो शान्ति प्राप्त कर चुके थे, अपने विमानों में खड़े रहे और अपनी आँखों से उनका अनुसरण किया, जैसे पृथ्वी पर गिर रहे हों, और उनका सम्मान करते समय पृथ्वी के अनेक राजाओं ने अपने मुख ऊपर उठाकर अपने मस्तकों से उनका स्वागत किया।

बुद्धचरित महाकाव्य का "जेतवन-स्वीकार" नामक
बीसवाँ सर्ग समाप्त।

इक्कीसवाँ सर्ग

प्रव्रज्या-स्रोत

१. स्वर्ग में अपनी माता को तथा निर्वाण के इच्छुक दूसरे देवों (=दिवौकः) को दीक्षित करने के बाद मुनि पृथिवी पर दीक्षा पाने योग्य जीवों को दीक्षित करते हुए घूमने लगे।

२. तब पाँच पर्वतों के बीच में स्थित नगर में विनायक ने ज्योतिष्क, जीवक, शूर, श्रोण और अंगद को विनीत (प्रव्रजित) किया।

३. उन्होंने राजपुत्र अभय, श्रीगुप्त, उपालि, न्यग्रोध, और दूसरों को, जो (नित्यता और विनाश के) दो अन्तों को मानते थे, उनके पूर्व-मतों से विमुख किया।

४. उन्होंने पुष्कर नामक गान्धार-राज को दीक्षित किया, जिसने धर्म-श्रवण करते ही राज्य-लक्ष्मी का परित्याग किया।

५. तब उन विपुल-पराक्रम ने विपुल पर्वत पर हैमवत और साताग्र यक्षों को दीक्षित किया।

६. जीवक के आम्र-वन में रात के समय पाँच सौ रानियों के साथ राजा (अजातशत्रु) को गुणदर्शी बुद्ध ने धर्म में स्थापित किया।

७. तब पाषाण पर्वत पर शान्ति-परायण पारायण (नामक) ब्राह्मण आधी गाथा के सूक्ष्म अर्थद्वारा दीक्षित हुआ।

७—इसका उत्तरार्ध चीनी अनुवाद से लिया गया है।

८. तब वेणु-कण्टक में उन्होंने नन्द की साध्वी माता को प्रव्रजित किया, जो उत्तम जागरूकता (=सत्स्मृति)-द्वारा अपनी आँखों के आगे (गुप्त) कोषों को देखती थी।

९. तब स्थाणुमती गाँव में ब्राह्मण-श्रेष्ठ कूटदत्त, जो सब प्रकार के यज्ञ करना चाहता था, निर्वाण-धर्म में प्रवेश कराया गया।

१०. तब विदेह पर्वत पर पञ्चशिख (गंधर्व-पुत्र), असुरों और देवों को (धर्म में) दृढ़ विश्वास हुआ।

११. तब अङ्ग नगर में पूर्णभद्र यक्ष तथा श्रेष्ठ, दण्ड, श्वेत, पिङ्गल व चण्ड (नामक) बड़े बड़े साँप (=महानाग) दीक्षित हुए।

१२. आपण नगर में केन्य व शेल (नामक) ब्राह्मण, जो (स्वर्ग में जन्म लेने के लिए) तप कर रहे थे, निर्वाण-पथ पर लाये गये।

१३. सुह्मों के बीच भगवान् ने दिव्य शक्ति (ऋद्धि) के प्रभाव से अङ्गुलिमाल ब्राह्मण को विनीत किया, जो सौदास के समान क्रूर था।

१४. भद्र में एक भद्र पुरुष के पुत्र से, जिसका नाम मेण्ढक था, जिसकी आजीविका अच्छी थी, जो उदार दाता था और जो सम्पत्ति में पूर्णभद्र के समान था, सम्यक् दृष्टि ग्रहण कराई गई।

१५. तब विदेह नगर में वक्ता-श्रेष्ठ ने उपदेशद्वारा ब्रह्मायु नामक व्यक्ति को जीता, जिसकी आयु ब्रह्मा की सी लम्बी थी।

१६. उन्होंने वैशाली के जलाशय में मांस-भक्षक (मर्कट नामक) राक्षस को तथा सिंह उत्तर व सत्यक-प्रमुख लिच्छवियों को भी दीक्षित किया।

१३—सुह्म = हजारीबाग, संथाल-पर्गना जिलों का कितना ही अंश —बु०। उस देश के रहनेवाले लोग सुह्म कहलाते थे।

१७. तब अलकावती नगरी में वह आर्यकर्मा, भद्र नामक एक सदाशय (उत्तम आशयवाले) यक्ष को धर्म-पथ पर ले आये।

१८. तब एक अत्यन्त अकुशल अटवी (जंगल) में बुद्ध ने आटविक यक्ष को और कुमार हस्तक को उपदेश दिया।

※ १९. तब...नगर में निर्वाण-दर्शी ने नागायन यक्ष को निर्वाण का उपदेश दिया और यक्ष-राज ने उन्हें प्रणाम किया।

२०. गया में ऋषि ने टङ्कित ऋषियों को और खर तथा शूची-लोम नामक दो यक्षों को उपदेश दिया।

२१. तब वाराणसी नगर में दशबलधारी ने कात्यायन नामक ब्राह्मण को प्रव्रजित किया, जो असित ऋषि का भागिनेय था।

२२. तब वह अपनी दिव्य शक्ति से शूर्पारक नगर में गये और स्तवकर्णी श्रेष्ठी को उपदेश दिया,

२३. जो उपदेश सुनते ही इतना श्रद्धालु हो गया कि वह मुनि-वर के लिए एक चन्दन-विहार बनाने लगा, जो सदा सुगन्धित एवं गगन-चुम्बी था।

२४. तब उन्होंने तपस्वी कपिल को महीवती में विनीत किया, जहाँ एक शिला पर मुनि के पाँवों के चक्र-चिह्न देख पड़ते थे।

२५. तब वरण में उन्होंने वारण (नामक) यक्ष को उपदेश दिया ; उसी प्रकार मथुरा में भयानक गर्दभ दीक्षित हुआ।

२६. तब स्थूलकोष्ठक नगर में विनायक ने राष्ट्रपाल कहे जानेवाले (व्यक्ति) को दीक्षित किया, जिसका धन राजा के धन के बराबर था।

※ २०—"टङ्कित ऋषि" से शायद "टङ्कित गुफाओं में रहनेवाले ऋषि" का अभिप्राय है।

२७. तब वैरञ्जा में विरिञ्च-सदृश एक महासत्त्व दीक्षित हुआ और उसी तरह कल्माशदम्य में विद्वान् भारद्वाज ।

२८. फिर श्रावस्ती में मुनि ने सभिय, निर्ग्रन्थ नपुत्रीपुत्रों और अन्य तीर्थिकों (पंडितों) का अन्धकार दूर किया ।

२९. यहाँ भी ब्राह्मण याज्ञिक पुष्कलसादी एवं जातिश्रोणी तथा कोशल-राज बुद्ध-धर्म में लाये गये ।

३०. तब शेतविक की वन-भूमि में उत्तम शिक्षक ने एक मैंने को और एक सुग्गे को—द्विजों के समान विद्वान् दो द्विजों को—सिखाया ।

३१. तब...नगर में जँगली नागर तथा क्रूरकर्मा कालक व कुम्भीर शम-धर्म में लाये गये ।

३२. तब भार्गसों के बीच उन्होंने भेषक यक्ष को दीक्षित किया और नकुल के वृद्ध माता-पिता पर वैसा ही अनुग्रह किया ।

३३. कौशाम्बी में धनवान् घोषिल, कुब्जोत्तरा तथा दूसरी स्त्रियाँ और बहुत से लोग दीक्षित हुए ।

३४. तब गान्धार देश में अपलाल (नामक) सर्प, जिसके इन्द्रिय विनय द्वारा शान्त हो गये, बुराई के परे चला गया ।

*३५. तब मृत्यु (काल) के समान जलाने की इच्छा करने-वाले...को दीक्षित कर बुद्ध ने क्रम से धर्मोपदेश किया ।

३६. इन तथा अन्य स्थलचारी अथवा नभचारी जीवों को दीक्षित करने से बुद्ध का यश बढ़ता ही गया, जैसे (पूर्णिमा आदि) पर्व में समुद्र ।

३१—रिक्त स्थान में साकेत (अयोध्या) लिखा जा सकता है ।

३७. उनका माहात्म्य देखकर देवदत्त को द्वेष हो गया और ध्यान-संयम खोकर उसने बहुत से अनुचित काम किये।

३८. कलुषित चित्त से उसने मुनि के सङ्घ में भेद खड़ा किया और भेद के कारण उनसे अनुराग करने के बदले उसने उन्हें क्लेश पहुँचाने का प्रयत्न किया।

३९. तब गृध्रकूट पर्वत पर उसने वेगपूर्वक एक शिला लुढ़काई; किन्तु, मुनि के ऊपर लक्ष्य होने पर भी यह उन पर नहीं गिरी, किन्तु दो टुकड़ों में विभक्त हो गई।

४०. राज मार्ग पर उसने तथागत की ओर एक गजेन्द्र छोड़ा, जो प्रलयकालीन काले बादलों के समान गरज रहा था और जो चाँद के छिपने पर आकाश में बहनेवाली आँधी के समान दौड़ रहा था।

४१. राजगृह के मार्ग उन लाशों से (पटकर) चलने योग्य नहीं रहे, जिन पर उसने अपने शरीर से चोट की थी, या जिन्हें उसने अपनी सूँड़ से ऊपर उठाया था या जिनकी अँतड़ियाँ उसके दाँतों द्वारा खींची जाकर ढेर की ढेर बिखेरी गई थीं।

४२. मांस की प्यास से उसने लोगों की जाँघें खोदीं और जब उसकी सूँड़ ने अँतड़ियों का स्पर्श किया, तब छुटकारा पाने के लिए उसने उन (अँतड़ियों) की मालाएँ खींचकर पत्थर की तरह आकाश में फेंकीं, उस समय उसके भयावने मस्तक कानों व जीभ से लोहू चू रहा था।

४१—अमरावती में चित्रित इस दृश्य (Vogel—"भारत लङ्का और जावा में बौद्ध-कला") का आधार ये ही श्लोक हैं—जौन्सटन।

४३. नगर-निवासी आतङ्कित हुए और उससे डर गये, इसलिए कि वह रक्त-विन्दुओं और सड़ते हुए (दुर्गन्ध-युक्त) रुधिर से लिप्त होकर तथा मस्तक पर व्याप्त मद-जल की गन्ध से युक्त होकर असीम क्रोध से घूम रहा था।

४४. जब उन लोगों ने यम-दण्ड के समान भयानक उस मतवाले हाथी को देखा, जिसका चेहरा अविनय से फूला हुआ था, जो गरज रहा था और क्रोध से आँखें घुमा रहा था, तब राजगृह में हाहाकार मच गया।

४५. कुछ लोग निराश होकर चारों ओर भागे, कुछ लोग ऐसी जगहों में छिप गये जहाँ वे देखे नहीं जा सकते थे और दूसरे ऐसे डरे कि दूसरा सब भय खोकर दूसरों के घरों में घुस गये।

४६. हाथी कहीं बुद्ध को क्लेश न पहुँचावे, इस डर से कुछों ने अपनी जान की पर्वाह न की और उसके पीछे से वीरतापूर्वक चिल्लाये, जैसे कूदने को उद्यत सिंह गरज रहा हो।

४७. उसी प्रकार दूसरों ने महावत को पुकारा, कुछों ने प्रार्थना पूर्वक अपने हाथ उठाये, कुछों ने तब उसे धमकाया भी और दूसरों ने उसके द्रव्य-प्रेम से प्रार्थना (अपील) की।

४८. छज्जों से देखती हुई नवयुवतियाँ बाहुएँ फेंककर रोईं; कुछों ने डरकर सुवर्ण-कंकणयुक्त ताम्रवर्ण हाथों से आँखें मूँद लीं।

४९. यद्यपि हत्या के अभिप्राय से हाथी आगे आ रहा था और रोते हुए लोग (मना करने के लिए) हाथ उठा रहे थे, तो भी सुगत शान्त एवं अविचल (-चित्त) होकर आगे ही बढ़े, न तो उन्होंने पाँव उठाना ही रोका, और न वे द्वेष के ही वशीभूत हुए।

५०. शान्तिपूर्वक मुनि आगे आये ; उस महागजेन्द्र को भी उन्हें स्पर्श करने की शक्ति नहीं थी, इसलिए कि अपनी मैत्री के कारण उनकी करुणा सब जीवों पर थी और इसलिए कि देवगण भक्तिवश उनके पीछे पीछे चल रहे थे ।

५१. दूर ही से गजेन्द्र को देखकर बुद्ध के पीछे पीछे जानेवाले शिष्य भाग गये । केवल आनन्द ने बुद्ध का अनुसरण किया, जैसे सहज स्वभाव विविध पदार्थों का अनुसरण करता है ।

५२. जब क्रुद्ध हाथी समीप आया तो मुनि के दिव्य प्रभाव से उसे होश हो गया, और अपना शरीर झुकाकर, उस पर्वत के समान जिसके पंख वज्र से विदीर्ण हुए हों, उसने अपना मस्तक पृथ्वी पर रक्खा ।

५३. जैसे सूरज अपनी किरणों से बादल को छूता है, वैसे ही मुनि ने अपने सुन्दर हाथ से, जो कमल के समान कोमल था और जिसकी सुगठित अँगुलियाँ (रेखा–) जाल से युक्त थीं, गजराज के माथे पर थपकी लगाई ।

५४. जब हाथी पानी से भरे बादल के समान उनके पाँवों पर झुका, तब ताल-पत्र-सदृश उसके (बड़े बड़े) कानों को निश्चल देखकर मुनि ने उसे शम-धर्म का उपदेश दिया, जो बुद्धिधारी प्राणियों के लिए ही उपयुक्त है:—

५५. "निरपराध (=नाग) की हत्या करने से दुःख होता है ; हे हाथी, निरपराध को पीड़ित न करो । क्योंकि, हे हाथी, निरपराध की हत्या करनेवाले का जीवन जन्म जन्म में आठ जन्म तक विकसित नहीं होता है ।

५६. काम मोह व घृणा, ये तीन दुर्जेय मद हैं ; फिर भी मुनि-गण मद-त्रय से मुक्त हैं । अतः इन तापों से अपने को मुक्त करो और दुःख के परे चले जाओ ।

५७. इसलिए यह अन्धकार प्रेम (= तमःप्रसक्ति) त्याग करने के लिए मद-मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक अवस्था में लौट जाओ । हे गजेन्द्र, काम की अधिकता से संसार-सागर के पङ्क में फिर मत गिरो ।"

५८. तब ये वचन सुनकर हाथी मद से मुक्त हो गया और फिर उचित मानसिक अवस्था पर लौट आया ; और अमृत-पान करने पर रोग-मुक्त हुए के समान उसने उत्तम आन्तरिक (= अन्तर्गत) आनन्द प्राप्त किया ।

५९. गजेन्द्र ने तुरन्त मद का त्याग किया और शिष्य के समान मुनि को प्रणाम किया, यह देखकर कुछों ने वस्त्र से ढँकी बाहुएँ ऊपर फेंकीं और दूसरों ने भुजाएँ चमकाईं (घुमाईं, = √परिभ्र्, √उल्लस्), जिससे कपड़े गिर पड़े ।

६०. तब कुछों ने मुनि के आगे हाथ जोड़े और दूसरों ने उन्हें घेर लिया । कुछों ने उस बड़े हाथी के आर्यत्व की प्रशंसा की और दूसरों ने विस्मित होकर उसे थपकी लगाई ।

६१. महल की स्त्रियों में से कुछों ने बहुमूल्य नये वस्त्रों से उन्हें सम्मानित किया तथा दूसरों ने उन पर भाँति भाँति के अलङ्कारों तथा मोहक और नये हारों की झड़ी लगा दी ।

६२. जब काल-सदृश वह हाथी विनीत होकर खड़ा हुआ, तब जो (धर्म में) विश्वास नहीं करते थे वे मध्यम अवस्था में प्रविष्ट

हुए, जो पहले ही से मध्यम अवस्था में थे उन्होंने विश्वास की एक विशिष्ट अवस्था प्राप्त की, और जो विश्वासी थे वे अत्यन्त दृढ़ हो गये।

६३. तब अपने महल में खड़े अजातशत्रु ने गजेन्द्र को मुनि द्वारा विनीत होते देखा और वह विस्मय से अभिभूत हो गया; उसे प्रसन्नता हुई और बुद्ध में परम विश्वास हुआ।

६४. जैसे कलियुग बीतने पर तथा कृतयुग शुरू होने पर धर्म और अर्थ की वृद्धि होती है, वैसे ही मुनि अपने यश, ऋद्धियों (=चमत्कारों) एवं दुष्कर कर्मों से बढ़ने लगे।

६५. किन्तु देवदत्त, द्वेषपूर्वक बहुत से बुरे व पाप कर्म करके, अधःलोक में गिरा, जो राजा और प्रजा द्वारा ब्राह्मणों एवं मुनियों द्वारा निन्दित है।

बुद्धचरित महाकाव्य का "प्रव्रज्या-स्रोत" नामक
इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त।

बाईसवाँ सर्ग

अग्रपाली के उपवन में

१. जब वह वक्ता-श्रेष्ठ काल-क्रम से संसार पर अनुग्रह कर चुके और पृथ्वी को अपने धर्म से व्याप्त कर चुके, तब उनका चित्त निर्वाण की ओर गया।

२. तब मुनि यथासमय राजगृह से पाटलिपुत्र गये, जहाँ वह पाटलिपुत्र नामक चैत्य में ठहरे।

३. उस समय मगध-राज के मंत्री वर्षाकार (वर्षकार) ने लिच्छवियों को शान्त रखने के लिए एक किला बनाया था।

४. तथागत ने देवताओं को वहाँ अपना कोष लाते देखा और भविष्यद्वाणी की : "यह नगर ससार भर में सर्व-श्रेष्ठ होगा"।

५. वह उत्तम कर्मशील (कर्मी), वर्षाकारद्वारा उचित रीति से सम्मानित होकर, समुद्र की प्रधान पत्नी (महिषी) की ओर गये।

६. सूर्य के समान उज्ज्वल भगवान् जिस द्वार से निकले, उसे उस (वर्षाकार) ने गौतम-द्वार (के नाम) से सम्मानित किया।

७. वह, जो कि (संसार-सागर) पार करना देख चुके थे, गंगा-तट पर आये और भाँति भाँति की नावों के साथ लोगों को देखकर उन्होंने सोचा :—

८. "प्रयत्नपूर्वक नदी पार करना मेरे लिए अनुचित होगा, इसलिए अपने ऋद्धि-बल से नाव के विना हो मुझे स्वयं जाना चाहिए।"

९. इस तरह दर्शकों की दृष्टि से ओझल होकर वह तब अपने शिष्यों के साथ हवा की गति को भी मात करते हुए एक क्षण में उस पार चले गये।

१०. क्योंकि मुनि जानते थे कि ज्ञानरूपी नाव से ही दुःखरूपी सागर पार किया जाता है, इसलिए उन्होंने इस (भौतिक) नाव का प्रयोग किये विना ही गंगा पार की।

११. वह घाट, जहाँ से विनायक गङ्गा के उस पार गये, जगत् में उनके गोत्र-नाम से (गौतम) तीर्थ होकर विख्यात है।

*१२. उन्हें देखकर पार होने के इच्छुक, पार हो रहे तथा पार हुए लोगों के मुख विस्मय से विकसित हुए।

१३. तब बुद्ध गङ्गा-तीर से कुटी नामक गाँव में गये और वहाँ धर्मोपदेश करके नादी गये।

१४. उस समय वहाँ बहुत से लोग मरे थे और मुनि ने बतलाया कि उनमें से कौन किस लोक में जन्मा और क्या होकर।

१५. वहाँ एक रात रहकर श्रीघन (बुद्ध) वैशाली नगरी चले गये और अम्रपाली के प्रान्त में एक उज्ज्वल उपवन में ठहरे।

१६. "तथागत यहीं हैं" यह जानकर अम्रपाली वेश्या एक साधारण रथ पर सवार हुई और अत्यन्त प्रसन्न होकर चली।

१७. देव-पूजन-समय की एक कुलीन स्त्री के समान वह स्वच्छ श्वेत वस्त्र पहने हुए थी और मालाओं या अङ्गराग से रहित थी।

*१८. सौन्दर्य के अभिमान में वह अपने संयुक्त आकर्षणों से लिच्छविकुल-पुत्रों की सम्पत्ति एवं चित्त आकृष्ट किया करती थी।

१९. रूपवती वन-देवता के समान अपने सौन्दर्य एवं गौरव में आत्म-विश्वास करती हुई वह रथ से उतरी और तेजी से उपवन में घुस गई।

२०. "उसकी आँखें चञ्चल हैं और उसके कारण कुलीन स्त्रियों को शोक होता है" यह देखकर सुगत ने दुन्दुभि की सी वाणी में शिष्यों को आदेश दिया—

२१. "यह अम्रपाली समीप आ रही है, जो दुर्बलों का मानसिक ताप है ; स्मृतिरूपी रसायन से अपने अपने मनको वश में रखते हुए तुमलोग ज्ञान में स्थित हो जाओ।

२२. स्मृति (अप्रमाद, सावधानी) एवं ज्ञान (प्रबोध)-रहित पुरुष के लिए स्त्री के सान्निध्य (पड़ोस, समीपता) की अपेक्षा साँप या खुली तलवारवाले शत्रु का सान्निध्य अच्छा है।

२३. बैठो हो या सोई, टहलती हो या खड़ी, चित्र लिखित ही क्यों न हो, स्त्री (हर हालत में) पुरुषों के हृदय हरण करती है।

२४. स्त्रियाँ विपत्ति (=व्यसन) से भी पीड़ित हों, या रोती हुई चारों ओर बाहु-लताएँ फेंक रही हों, या आकुल-केशपाश हो दग्ध हो रही हों, तो भी उनकी शक्ति उत्कृष्ट होती है।

२५. बाहरी वस्तुओं का प्रयोग करती हुई वे अनेक आहार्य (बनावटी) गुणों से (लोगों को) ठगती हैं और अपने वास्तविक गुणों को छिपाती हुई वे मूर्खों को मोह में डालती हैं।

२६. स्त्री को अनित्य दुःखमय अनात्म और अशुचि समझने से पंडितों के चित्त उसे देखकर अभिभूत नहीं होते हैं।

२७. जिन मनुष्यों के चित्त इन प्रलोभनों (आलय) से सुपरिचित होते हैं, जैसे कि पशु गोचर भूमि से, वे दिव्य आनन्दों का आक्रमण होने पर कैसे मोह में पड़ सकते हैं ?

२८. अतः प्रज्ञारूपी तीर लेकर, हाथों में वीर्यरूपी धनुष ग्रहण कर और स्मृतिरूपी कवच पहनकर विषयों की बात पर खूब सोचो ।

२९. बहकी हुई स्मृति से स्त्री की चंचल आँखों को देखने की अपेक्षा लोहे की गर्म काँटियों से अपनी आँखों को जला डालना अच्छा है ।

३०. यदि मरते समय तुम्हारा चित्त काम के अधीन हो, तो इससे तुम विवश होकर बाँधे जाओगे और पशु-योनि में या नरक में तुम्हारा जन्म होगा ।

३१. इसलिए इस भय को पहचानो और बाहरो लक्षणों (= निमित्त) पर ध्यान मत दो ; क्योंकि वही ठीक ठीक देखता है, जो शरीर में केवल (वास्तविक) रूप को देखता है ।

३२. जगत् में न तो इन्द्रिय ही विषयों को बाँधते हैं और न विषय ही इन्द्रियों को । उन (विषयों) के लिए जिस किसी को काम (पैदा) होता है, वह उनमें बाँधा जाता है ।

३३. विषय और इन्द्रिय परस्पर आसक्त हैं, जैसे कि दो बैलों का जोड़ा एक जुए में जुता रहता है ।

*३४. आँख आकृति को देखती है और चित्त उसपर विचार करता है और उस विचार से विषय के बारे में काम उत्पन्न होता है और काम से मुक्ति (निष्कामता) भी ।

*३५. तब विषयों की उचित परीक्षा नहीं करने से महा-अनर्थ होता है, इन्द्रियों के क्षेत्र में प्रवृत्ति (विषयासक्ति) सब विपत्तियों का घर है ।

३६. अतः स्मृति का त्याग नहीं करते हुए, परम सावधानी से चलते हुए, और अपने हित (=स्वार्थ) का खयाल रखते हुए, तुम लोग मन से उत्साहपूर्वक भावना करो।"

३७. जब उन्होंने अपने शिष्यों को, जो रूप के अन्त तक नहीं पहुँचे थे, इस प्रकार उपदेश दिया, तब अम्रपाली उन्हें देखकर हाथ जोड़े समीप आई।

३८. शान्तचित्त मुनि को एक वृक्ष के नीचे बैठे देखकर उस (अम्रपाली) ने उन (मुनि) के द्वारा उपवन का उपभोग (=परिभोग) होने से अपने को अनुगृहीत माना।

३९. तब अपनी चंचल आँखों को ठीक कर, उसने पूर्ण विकसित चम्पक-पुष्प-सदृश मस्तक से मुनि को बड़ी श्रद्धा से प्रणाम किया।

४०. जब सर्वज्ञ (मुनि) के आदेशानुसार वह बैठ चुकी, तब मुनि ने उसके समझने योग्य शब्दों में उसे कहाः—

४१. "तुम्हारा यह आशय पवित्र है और तुम्हारा चित्त विशुद्धि-द्वारा स्थिर है; तो भी रूपवती एवं युवती नारी में धर्म-पिपासा दुर्लभ है।

४२. इसमें आश्चर्य का क्या कारण है कि धर्म, बुद्धिमान् पुरुषों को या विपत्ति-पीड़ित (=व्यसनाभिभूत) स्त्रियों को या संयतात्माओं (=आत्मावान्) को या व्याधि-ग्रस्तों को आकृष्ट करे?

४३. किंतु यह असाधारण है कि विषयासक्त (=विषयैकरस) जगत् में स्वभावतः दुर्बलबुद्धि एवं चञ्चलचित्त युवती नारी धर्म-भाव का पोषण करे।

४४. तुम्हारा चित्त धर्माभिमुख है, यही तुम्हारा सच्चा धन (= सदर्थ) है ; क्योंकि जीवलोक अनित्य है, अतः धर्म को छोड़कर दूसरी कोई सम्पत्ति नहीं ।

४५. रोग स्वास्थ्य को गिराता है, उम्र जवानी को काटती है और मृत्यु जीवन अपहरण करती है ; किंतु धर्म के लिए ऐसी कोई विपत्ति नहीं ।

४६. (सुख की) खोज में मनुष्य को केवल प्रिय से वियोग और अप्रिय से संयोग होता है, इसलिए धर्म ही सर्वोत्तम मार्ग है ।

४७. दूसरों पर आश्रित होना महादुःख है और अपने पर आश्रित होना परम सुख ; तो भी मानव-वंश में उत्पन्न सभी स्त्रियाँ दूसरों पर आश्रित हैं ।

४८. इसलिए तुम उचित निष्कर्ष पर पहुँचो, क्योंकि पराश्रय एवं प्रसव के कारण स्त्रियों को अत्यन्त कष्ट होता है ।"

४९. उसने—जो उम्र में छोटी थी, किन्तु जो आशय बुद्धि एवं गम्भीरता में छोटी-जैसी नहीं थी—महामुनि के ये वचन प्रसन्नता-पूर्वक सुने ।

५०. तथागत के धर्मोपदेश करने से उसने कामासक्त चित्त की अवस्था का परित्याग किया, स्त्रीत्व (स्त्री होने की दशा) को तुच्छ समझती हुई वह विषयों से विमुख हो गई, और अपनी जीविका के उपायों से उसे घृणा हो गई ।

४७—मूल श्लोक बहुत कुछ ऐसा हो सकता है:—

पराश्रयो महादुःखं, स्वाश्रयः परमं सुखम् ।
मनुवंशे समुत्पन्नाः, सर्वाः स्त्रियः पराश्रिताः ॥

*५१. तब मञ्जरी से भरी आम्रशाखा के समान अपनी देह से प्रणिपात करते हुए उसने अपनी दृष्टि महामुनि में स्थिर की और फिर धर्म के प्रति विशुद्धदृष्टि होकर वह उठ खड़ी हुई।

५२. नम्रस्वभाव होने पर भी, धर्म-पिपासा से निरन्तर प्रेरित होती नारी ने अपने कर-कमलों को जोड़कर मृदु स्वर में कहा:—

५३. "हे भगवन्, आपने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है और सांसारिक दुःख शान्त कर लिया है। अपने शिष्यों के साथ भिक्षाटन का समय मेरे लिए सफल करें ... ... जिससे मैं धर्मोपदेश लाभ करूँ।"

५४. तब उसकी भक्ति देख और प्राणियों को आहार पर आश्रित जान, सुगत ने मौन धारण कर अपनी सम्मति दी तथा सङ्केत(=विकार) द्वारा अपना आशय प्रकट किया।

५५. परम धर्म के अधिकारी बुद्ध को, जिनकी दृष्टि अवसर को पहचानती थी, उस धर्म-पात्र में अत्यन्त आनन्द हुआ, ...श्रद्धा द्वारा श्रेष्ठ लाभ होता है, यह जानते हुए उन्होंने उस (अम्रपाली) की प्रशंसा की।

बुद्धचरित महाकाव्य का "अम्रपाली के उपवन में मुनि का आगमन" नामक बाईसवाँ सर्ग समाप्त।

तेईसवाँ सर्ग

आयु निश्चित करना

१. तब मुनि का आशय समझकर, वह उन्हें प्रणाम करके नगर को लौट गई। समाचार सुनकर, लिच्छवि बुद्ध को देखने आये।

२. कुछों के घोड़े, रथ, छत्र, हार, अलङ्कार और वस्त्र श्वेत थे तथा दूसरों के सुनहले रंग के थे।

३. कुछों की सब चीजें वैदूर्य के समान पीली थीं, तो दूसरों की मयूर-पुच्छ के रंग की। इस तरह अपने अपने मन के अनुकूल उज्ज्वल परिधान (चमकीला पहनावा) पहनकर वे बाहर आये।

४. वे, जिनके शरीर पर्वत के समान विशाल थे और जिनकी बाहुएँ सुनहले जुए के समान थीं, स्वर्ग के शरीरधारी उज्ज्वल ... के सदृश जान पड़े।

५. जब वे रथों से उतरने के लिए खड़े हुए, तब संध्याकालीन बादल पर पड़नेवाली बिजली की छटाओं के समान वे चमके।

६. अपने तरंगित शिरोवेष्टनों (पगड़ियों) को झुकाते हुए उन्होंने धैर्यपूर्वक मुनि को प्रणाम किया ; अभिमानी होने पर भी वे धर्म की अभिलाषा से मानो गम्भीर होकर वहाँ खड़े हुए।

७. बुद्ध के पास उनका निर्मल मण्डल ऐसे चमका, जैसे अनभ्र (बादल-रहित) सूर्य के सामने (प्रकाश में) इन्द्र-धनुष चमक रहा हो।

८. तब सिंह और दूसरे लोग पृथ्वी पर सिंहों की आकृति से युक्त तथा सोने से अलंकृत सिंहासनों पर बैठ गये, और तब पुरुष-सिंह ने उनसे कहा:—

९. "धर्म के प्रति आपकी यह भक्ति मूल्य में आपकी रूप राज्य व बल आदि विशेषताओं से बहुत बढ़कर है।

१०. आपके सौन्दर्य, भव्य वस्त्रों, आभूषणों या हारों की वैसी चमक नहीं है, जैसी कि शील आदि गुणों की।

११. मैं वृजियों को अनुगृहीत और भाग्यवान् समझता हूँ कि उनके अधिपति आप हैं, जो धर्म के ज्ञाता तथा विनय के इच्छुक हैं।

१२. हे आर्य, धर्म में रहनेवाले (प्रजा—) पालक साधारणत: (आर्यावर्त के) भीतर के देशों में तथा अभागों के लिए दुर्लभ हैं।

१३. इस देश पर धर्म का भी अनुग्रह है कि यह धर्म-ज्ञान के रक्षक महाभागों द्वारा पालित है।

१४. इसलिए, जैसे नदी पार करने की इच्छा करनेवाली गौएँ (पशु) गवांपति (झुण्ड के सरदार) का अनुसरण करती हैं, वैसे ही राजाओं से रक्षित देश में (बसने के लिए) लोग इकट्ठे होते हैं।

१५. यह शील हमेशा आप में रहना चाहिए जिससे आपका धन (=स्वार्थ ?) इहलोक या परलोक में कामद्वारा नहीं छीना जा सके।

१६. शील का फल महान् है,—संतुष्ट चित्त, सम्मान, लाभ, यश, विश्वास, आनन्द एवं पारलौकिक सुख।

१७. जैसे पृथ्वी सब चराचर जीवों का आश्रय है, वैसे ही शील सब गुणों का उत्तम आश्रय है।

१८. शील छोड़कर भी परम पद चाहनेवाले मनुष्य को, उड़ने की इच्छा करनेवाले पंख-विहीन प्राणी के समान या नदी पार करने की इच्छा करनेवाले नाव-रहित व्यक्ति के समान जानिये।

१९. जो मनुष्य यशस्वी, रूपवान् और धनवान् होकर भी शील से विमुख है, वह उस वृक्ष के समान है जो फूला-फला होने पर भी काँटों से भरा हो।

२०. कोई मनुष्य महल में रहता हो और उज्ज्वल वस्त्र-आभूषण पहनता हो, किन्तु, यदि वह शीलवान् है तो उसकी गति महर्षि की-सी है।

२१. वे सब छद्मचारी (कपटी) समझे जायँगे, जिन्होंने, काषाय या वल्कल वस्त्र पहनते हुए भी तथा ऋषियों की भाँति तरह-तरह से केशों को सजाते हुए भी, अपना शील नष्ट कर लिया है।

२२. यद्यपि कोई मनुष्य प्रतिदिन तीन बार तीर्थ में नहाता हो, अग्नि में दो बार आहुतियाँ डालता हो, अग्नि के ताप से दग्ध होता हो, तो भी शीलवान् नहीं होने पर वह कुछ नहीं है।

२३. यद्यपि वह हिंसक पशुओं के आगे अपना शरीर समर्पित करता हो, पर्वत पर से अपने को गिराता हो, आग या पानी में कूदता हो, तो भी शीलवान् नहीं होने पर वह कुछ नहीं है।

२४. यद्यपि वह थोड़ा सा फल-मूल खाकर रहता हो, मृग के समान तृण चरता हो, हवा पीकर जीना चाहता हो, तो भी शीलवान् नहीं होने पर वह शुद्ध नहीं हो सकता।

२५. दुःशील मनुष्य पशु-पक्षियों के समान है ; वह धर्म का पात्र नहीं है, किन्तु पानी के चूते हुए पात्र के समान है।

२६. इहलोक में उसे भय, अयश, अविश्वास एवं असंतोष मिलते हैं और परलोक में वह विपत्ति भोगेगा।

२७. इसलिए मरुभूमि के पथ-प्रदर्शक की तरह शील की हत्या नहीं होनी चाहिए; अपने पर ही आश्रित रहनेवाला दुर्लभ शील एक नाव है, जो मनुष्य को स्वर्ग ले जाती है।

२८. जिसका चित्त दोषों से अभिभूत होता है, वह जीवन में सब कुछ खो बैठता है। शील में स्थित होकर दोषों का नाश करो और श्रद्धा का पोषण करो (या जो कुछ अच्छा है वह करो)।

२९. इसलिए उन्नति चाहनेवाला आदमी पहले अपने को आत्म-भाव (अहंभाव) से मुक्त करे; क्योंकि आत्मभाव गुणों को वैसे ही छिपाता है, जैसे धुआँ आग को।

३०. गुण, वास्तव में होने पर भी, अभिमान से अभिभूत होकर नहीं चमकते, जैसे बादलों से ढँके हुए तारे, सूरज व चाँद नहीं चमकते।

३१. औद्धत्य लज्जा (= ह्री) को नष्ट करता है, शोक धैर्य को, बुढ़ापा सौन्दर्य को और आत्मभाव गुणों के मूल को।

३२. द्वेष एवं अभिमान के कारण असुरगण देवों से पराजित होकर पाताल में फेंके गये और त्रिपुर नाश को प्राप्त हुआ।

३३. वह मनुष्य बुद्धिमान् नहीं समझा जाता है, जो अनित्य जीवन में अपने को सबसे अच्छा, न कि बुरा, समझता है।

३४. यद्यपि यह आकृति ही अस्थिर है तथा मनुष्य अनित्य व विनाशधर्मा है, तो भी "मैं ही" (अहमेव) यह सोचता हुआ वह अभिमान करता है—इसमें विवेक-शून्यता के अतिरिक्त और क्या है!

३५. कामराग प्रबल प्रच्छन्न एवं सहजात शत्रु है, जो बुराई करनेवाले दुश्मन के समान मित्रता के वेष में प्रहार करता है।

३६. कामराग की अग्नि तथा साधारण अग्नि समानरूप से दहनशील हैं, किंतु कामराग की अग्नि प्रज्वलित होने पर रात अवश्य लम्बी होगी।

३७. कहा जाता है कि अग्नि की वैसी शक्ति नहीं है जैसी कि कामराग की अग्नि की ; क्योंकि अग्नि जल से शान्त हो जाती है, किन्तु कामराग की अग्नि सम्पूर्ण सरोवर से भी नहीं।

३८. आग से जंगल जलने पर जंगल के वृक्ष समय पर उत्पन्न हो जाते हैं ; किंतु कामराग की अग्नि से दग्ध होने पर मूर्खों में धर्म की उत्पत्ति नहीं होती है।

३९. कामराग के कारण मनुष्य सुख खोजता है और सुख के लिए बुराई (अकुशल कर्म) करता है ; बुराई करने से नरक में गिरता है। कामराग के समान शत्रु नहीं।

४०. काम से इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा से कामासक्ति। कामासक्ति से मनुष्य को दुःख होता है। काम के समान शत्रु नहीं।

४१. मूर्ख कामनामक महाव्याधि की पर्वाह नहीं करता और... ... ... ।

४२. काम को अनित्य अपवित्र दुःखधर्मा एवं अनात्म समझकर यदि कोई मनुष्य अपने को उससे मुक्त भी कर ले, तो भी अपने कुमार्ग-गामी चित्त के कारण वह फिर काम के वशीभूत हो जाता है।

४३. इसलिए वस्तु से अनुराग पैदा होने पर जो कोई उसे वास्तविक अवस्था में (= यथाभूतं) देख सकता है, वह वास्तविकता-दर्शी (=भूतदर्शी) कहा जाता है।

४४. जैसे (किसी वस्तु के) गुणों को देखने से आसक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही इसके दोषों पर विचार करने से क्रोध (विमुखता ?) होता है।

४५. इसलिए जो कोई क्रोध रोकना चाहे, वह अपने को विमुखता से प्रभावित न होने दे ; क्योंकि जैसे आग से धुआँ निकलता है, वैसे ही विमुखता से क्रोध उत्पन्न होता है।

४६. जैसे रूपवानों के लिए बुढ़ापा और आँखवालों के लिए अँधेरा है वैसे ही क्रोध, धर्म अर्थ व काम का विफलीकरण तथा विद्या का शत्रु है।

४७. क्रोध चित्त का घना अंधकार है, मित्रता का प्रधान शत्रु है, सम्मान-विनाशक और अपमानजनक है।

४८. इसलिए क्रोध न कीजिए, यदि आप करते भी हों तो इसे छोड़ दीजिए। जैसे दंशधर्मा साँप के पीछे आप नहीं पड़ते हैं, वैसे ही क्रोध के पीछे न पड़ें।

४९. जो कोई मार्ग से बहके हुए रथ के समान क्रोध को लगाम लगाकर दृढ़तापूर्वक वश में रखता है उसी को मैं सच्चा सारथि समझता हूँ, दूसरे प्रकार का सारथि तो केवल लगाम पकड़नेवाला है।

४९—यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं' व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥
— (ध० प० कोधवग्गो, १७.२)

अर्थः—"जो आए क्रोध को उसी तरह रोक ले, जैसे कोई मार्ग-भ्रष्ट रथ को ; उस आदमी को मैं (असली) सारथी कहता हूँ,

५०. जो कोई क्रोध करना चाहता है और इसकी उत्पत्ति को रोकना नहीं चाहता है, क्रोध बीतने पर वह ऐसे जलता है जैसे आग छूने से।

५१. जब मनुष्य क्रोध करता है तो पहले उसका ही चित्त जलता है ; पीछे, ज्यों ज्यों क्रोध बढ़ता जाता है त्यों त्यों, दूसरे भी, इससे जल सकते हैं या नहीं भी (जल सकते हैं) ।

५२. शरीर-धारी शत्रुओं के प्रति द्रोह करने से क्या लाभ, जब कि (शरीर-धारी प्राणियों का) संसार ही रोग आदि विपत्तियों से पीड़ित है?

५३. इसलिए संसार को दुःख के वशीभूत जानकर आप लोगों को क्रोध रोकने के लिए सब जीवों के प्रति मैत्री एवं करुणा का आचरण करना चाहिए ।"

५४. उस समय उन्हें दोषों से भरा देखकर, बुद्ध ने उनके ऊपर करुणा की और उपदेश देकर, उन्हें फटकारा ।

५५. जैसे अस्वस्थ मनुष्यों को रोग-मुक्त करने के लिए, वैद्य उनकी शारीरिक अवस्थाओं के अनुसार ओषधि-सेवन का आदेश देता है,

५६. वैसे ही काम बुढ़ापा आदि रोगों से पीड़ित प्राणियों के आशय जानकर मुनि ने उन्हें तत्त्व-ज्ञान की ओषधि दी ।

५७. मुनि के ऐसे उपदेश से लिच्छवियों को आनन्द हुआ और उन्होंने शिर नवाकर उन्हें प्रणाम किया, जिससे उनकी रत्नमय चूड़ाएँ नीचे लटकने लगीं ।

दूसरे लोग तो केवल रस्सी पकड़नेवाले हैं ।"

यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा ।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ॥

—म० भा० आदिपर्व ।

५८. तब हाथ जोड़कर और कुछ कुछ देह नवाकर, उन्होंने अपने यहाँ आने के लिए बुद्ध से अनुरोध किया, जैसे देवताओं ने बृहस्पति से अनुरोध किया था।

५९. तब मुनि ने उनसे निवेदन किया कि अम्रपाली की पारी पहले आई और बताया कि कुल-पुत्रों के निमित्त नीच कुलवालों को उनके अधिकारों से वञ्चित नहीं करना चाहिए।

६०. उस स्त्री ने उन लोगों को पहले ही आकर वञ्चित कर दिया, यह जानकर उन्होंने तथागत का अत्यन्त सम्मान किया, और वे अपनी स्वाभाविक मानसिक अवस्था (क्रोध) पर लौट आये।

६१. किंतु जब तथागत ने उन्हें उपदेश दिया, तब उन्होंने मानसिक शान्ति प्राप्त की, जैसे मुनियों के मन्त्रों का ठीक ठीक उच्चारण करने से साँप का विष शान्त हो जाता है।

६२. रात बीतने पर अम्रपाली ने उनका आतिथ्य किया और (वर्षावास करने के लिए वह) वेणुमती गाँव को (गये)।

६३. वर्षाऋतु वहाँ बिताकर महामुनि वैशाली लौट गये और मर्कट-जलाशय के किनारे बैठ गये।

६४. वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गये और जब वह वहाँ विराज रहे थे तो मार उस वन में आया और उनके समीप जाकर कहा :—

६५. "पूर्व में, हे मुनि, नैरञ्जना नदी के तीर पर जब मैंने आपसे कहा था "आपने अपना काम पूरा किया, निर्वाण प्राप्त कीजिए" तब आपने वहाँ उत्तर दिया था :—

६६. "मैं तब तक निर्वाण प्राप्त न करूँगा, जब तक पीड़ित प्राणियों की रक्षा न कर लेता हूँ और उनके द्वारा पाप-परित्याग (दोष-क्षय) न करा लेता हूँ" ।

६७. अब बहुतों ने मुक्ति (निर्वाण) पाई, या उसी तरह पाना चाहते हैं या पायेंगे । इसलिए निर्वाण प्राप्त कीजिए ।"

६८. तब ये वचन सुनकर, अर्हत्-श्रेष्ठ ने उससे कहा, "तीन महीने में मैं निर्वाण प्राप्त करूँगा, अतः अधीर मत होओ ।"

६९. तब इस प्रतिज्ञा से अपनी इच्छा पूरी हुई जानकर, वह अत्यन्त प्रसन्न होकर वहाँ से हट गया ।

७०. तब महामुनि ऐसे योग-बल से चित्त-समाधि में प्रविष्ट हुए कि उन्होंने अपनी शारीरिक आयु (जीवन) को छोड़ दिया और दिव्य शक्ति के प्रभाव से अभूतपूर्व तरीके से प्राण धारण किया ।

७१. जिस घड़ी उन्होंने शारीरिक आयु का परित्याग किया उस घड़ी पृथ्वी माती हुई स्त्री के समान काँपी और दिशाओं से बड़ी बड़ी उल्काएँ गिरीं, जैसे अग्नि-प्रज्वलित मेरु-पर्वत से पत्थरों की वर्षा हो रही हो।

७२. उसी प्रकार इन्द्र के अग्निगर्भ एवं विद्युन्मण्डित वज्र चारों ओर निरन्तर प्रदीप्त हुए ; और ज्वालाएँ सर्वत्र प्रज्वलित हुईं, जैसे कल्पान्तकालीन जगत् को जलाने की इच्छा कर रही हों ।

७३. पर्वतों ने, जिनकी चोटियाँ नष्ट हो गईं, ढेर के ढेर टूटे हुए वृक्ष चारों ओर बिखेरे और आकाश में दुन्दुभियों से, जैसे वायुपूर्ण गुफाओं से, विषम ध्वनि निकली ।

७४. तब मर्त्यलोक दिव्यलोक एवं आकाश में हुए सार्वभौम संक्षोभ की घड़ी में महामुनि ने गम्भीर समाधि से निकल कर ये वचन कहे:—

७५. "मेरा शरीर, जिसकी आयु मुक्त हो गई है, उस रथ के समान है, जिसका धुरा (अक्षाग्र, अक्षधुरा) टूट गया हो और मैं इसे अपनी शक्ति से ढो रहा हूँ। अपनी आयु के साथ मैं भव-बन्धन से मुक्त हूँ, जैसे अण्डे से निकलते समय अण्डे को फोड़नेवाला पक्षी (बन्धन से मुक्त होता है)।"

बुद्धचरित महाकाव्य का "आयु निश्चित करना"† नामक
तेईसवाँ सर्ग समाप्त।

---

†शारीरायुःसंस्काराधिष्ठान = शारीरिक आयु के संस्कारों का अधिष्ठान = आयु पर अधिकार प्राप्त करना, या आयु निश्चित करना।

चौबीसवाँ सर्ग

लिच्छवियों पर अनुकम्पा

१. तब भूकम्प देखकर, आनन्द को रोमाञ्च हो गया ; और "क्या होगा" इससे घबराकर (=आगतवेगः) वह काँपने लगा और आर्त हो गया।

२. उसने कारण जाननेवाले सर्वज्ञ से इसका कारण पूछा। तब मुनि ने मतवाले साँड़ के स्वर में उसे कहा:—

३. "इस भूकम्प का कारण यह है कि मैंने पृथ्वी पर अपने दिन काट डाले हैं ; मेरे जीवन के अब तीन महीने बचे हुए हैं (मेरी आयु अब से तीन महीने पर अधिष्ठित है) ।"

४. यह सुनकर आनन्द अत्यन्त विचलित हो गया और उसके आँसू बहने लगे, जैसे किसी बड़े हाथीद्वारा तोड़े गये चन्दन-वृक्ष से रस बह रहा हो।

५. बुद्ध उसके स्वजन और गुरु थे, इस कारण उसे शोक हुआ और अत्यन्त दुःखी होकर उसने दीनतापूर्वक विलाप किया:—

६. "अपने गुरु का निश्चय सुनकर, मेरा शरीर मानो डूब रहा है, मेरी ग्रन्थियाँ ढीली हो रही हैं और धर्मोपदेश, जो कि मैंने सुना है, आकुल हो रहा है।

७. अहो ! पुरुष-प्रशंसित (=नराशंस) तथागत शीघ्रता से निर्वाण की ओर जा रहे हैं, जैसे फटे-पुराने वस्त्रवाले, जाड़े से ठिठुरे हुए लोगों के लिए आग तेजी से बुझ रही हो।

८. पापों (=दोष) के महावन में भटके हुए शरीरधारी प्राणियों को मार्ग बतलाकर, पथ-प्रदर्शक अकस्मात् ही अदृश्य हो रहा है।

९. प्यास से पीड़ित मनुष्य लम्बे मार्ग पर चल रहे हैं और तब उनके मार्ग में स्थित शीतल जल का-जलाशय हठात् ही सूख रहा है।

१०. नीली पपनियोंवाला निर्मल लोक-चक्षु, जो भूत वर्तमान एवं भविष्य को देखता है और जो ज्ञान से विकसित है, अब बन्द होने को है।

११. अवश्य ही सूख रही लगी फसल के ऊपर जल बरसाकर बादल दूर हो रहा है (= √मज्ज्)।

१२. अज्ञानरूप अन्धकार के कारण मार्ग-भ्रष्ट प्राणियों के लिए चारों ओर चमकनेवाला प्रकाश अत्यन्त अकस्मात् ही शान्त हो रहा है।"

१३. तब आनन्द के चित्त को शोकाकुल देखकर तत्त्वज्ञ-श्रेष्ठ ने, जो सान्त्वना देनेवालों में प्रधान थे, उसके लिए तत्त्व की व्याख्या की:—

१४. "पहचानो, आनन्द, जगत् के वास्तविक स्वभाव को और शोक न करो। क्योंकि यह जगत् समष्टि है और इसलिए संस्कृत (उत्पन्न) होने के कारण अनित्य है।

१५. मैंने पहले ही तुम्हें कहा है कि द्वन्दों में आनन्द पानेवाले प्राणियों को तुम्हें अत्यन्त स्नेह-रहित (?) अनुकम्पा के साथ देखना चाहिए।

१०—"जो ज्ञान से विकसित है" इसकी जगह चीनी अनुवाद में है "जो प्रज्ञाद्वारा अन्धकार को दूर करता है"।

१६. जो कुछ उत्पन्न है वह संस्कृत और अनित्य है, किसी सहारे पर आश्रित होने के कारण इसे अपना आश्रय नहीं है। तब किसी के लिए भी नित्यत्व प्राप्त करना शक्य नहीं।

१७. यदि पृथ्वी के प्राणी नित्य (स्थायी) होते तो, तो जीवन (= प्रवृत्ति) परिवर्तनशील नहीं होता ; और तब मुक्ति (निर्वाण) की भी क्या जरूरत होती ? क्योंकि अन्त वैसा ही होता जैसा कि आरम्भ।

१८. या मेरे लिए तुम्हारी तथा अन्य लोगों की यह अभिलाषा ही क्या ? ... ... ।

१९. मैंने सम्पूर्ण मार्ग तुम्हें दृढ़तापूर्वक बतला दिया है। तुम्हें तथा (दूसरे) शिष्यों को समझना चाहिए कि बुद्ध कुछ छिपाते नहीं।

२०. चाहे मैं रहूँ या निर्वाण प्राप्त करूँ, एक ही बात है, वह यह कि तथागत धर्म की मूर्ति (= धर्मकाय) हैं ; यह मर्त्य शरीर तुम्हारे किस काम का ?

२१. क्योंकि मेरे जाने के समय संवेग व अप्रमाद द्वारा पूर्ण श्रद्धा पूर्वक मेरा प्रदीप जलाया गया है, इसलिए धर्म का प्रकाश हमेशा रहेगा।

२२. इसे अपना प्रदीप समझकर तुम्हें इसमें दृढ़ उत्साह के साथ लगना चाहिए ; और निर्द्वन्द्व होकर अपना लक्ष्य (= स्वार्थ) पहचानो तथा अपने मनको दूसरी बातों का शिकार मत होने दो।

२३. तुम्हें जानना चाहिए कि धर्म-प्रदीप है प्रज्ञा-प्रदीप, जिसके द्वारा चतुर व विद्वान् पुरुष अज्ञान दूर करता है, जैसे कि प्रदीप अन्धकार (दूर करता है)।

१६—"किसी...नहीं है" की जगह चीनी अनुवाद में है "यह दीनतापूर्वक किसी सहारे पर आश्रित है।"

२४. परम श्रेय प्राप्त करने के चार क्षेत्र (= गोचर) हैं—शरीर, वेदना, चित्त और अनात्मता।

२५. अस्थि, चर्म, रक्त, स्नायु, मांस केश आदि से भरे इस शरीर में गन्दगी देखनेवाले को शरीर के प्रति आसक्ति नहीं होती।

२६. वेदनाएँ दुःख हैं और प्रत्येक वेदना भिन्न भिन्न कारणों से उत्पन्न होती है, ऐसा जो देखता है वह सुख के भाव (= संज्ञा) को जीत लेता है।

२७. जो शान्त चित्त से (मानसिक) धर्मों की उत्पत्ति स्थिति व क्षय को देखता है, वह कुदृष्टि को ग्रहण नहीं कर सकता।

२८. स्कन्धों की उत्पत्ति कारणों से होती है, ऐसा जो देखता है उसके लिए "अहं" में विश्वास (श्रद्धा) पैदा करनेवाला आत्मभाव बन्द हो जाता है।

२९. दुःख अन्त करने का यही एक मार्ग है ; इन चारों के बारे में उसी प्रकार (धर्म-) मार्ग पर सावधान रहो।

३०. उसी तरह, मेरे उस पार चले जाने पर, जो लोग इस पर स्थित रहेंगे, वे उत्तम अहार्य एवं नैष्ठिक पद प्राप्त करेंगे।"

३१. इस तरह विनायक ने आनन्द को उपदेश दिया ; और यह समाचार सुनकर, बुद्ध की भक्ति से लिच्छवि वहाँ दौड़े आये।

३२. दया एवं मुनि-भक्ति के कारण उनके चित्त संताप से अभिभूत हुए और यह समाचार सुनकर, उन्होंने तुरत उन कार्यों को, जिनमें वे व्यस्त थे, तथा साधारण आडम्बर (= ऋद्धि) को छोड़ दिया।

३३. गुरु से बोलने की इच्छा से वे उन्हें प्रणाम करके एक ओर खड़े हो गये और उनकी बोलने की इच्छा जानकर गुरु ने उन्हें यों कहा—

३४. मेरे प्रति तुम लोगों के चित्त में जो कुछ हो रहा है वह सब मैं जानता हूँ ; तुम लोग वही होते हुए भी मानो शोक से बदलकर अब ... ... ।

३५. लक्ष्मी के साथ रहते हुए भी तुम लोगों में बाहरी दीप्ति और धर्म का ज्ञान दोनों विद्यमान हैं ।

३६. यदि मुझ से कुछ सुनकर तुम लोगों ने ज्ञान प्राप्त किया है, तो अपने को शान्त करो और मेरे चले जाने (= व्यय) से दुःखी मत होओ ।

३७. क्योंकि जीवन (=प्रवृत्ति) अनित्य व संस्कृत हैं, इसलिए वे नश्वर परिवर्तनशील असार और अविश्वसनीय हैं ; उनमें कुछ भी स्थायित्व नहीं है ।

३८. वसिष्ठ, अत्रि और दूसरे सभी तपस्वी (ऊर्ध्वरेतस्) काल के वशीभूत हुए । यहाँ का अस्तित्व ही विनाशक है ।

३९. पृथ्वीपति मान्धाता, वासवतुल्य वसु और भाग्यशाली (=महाभाग) नाभाग (पञ्च–) महाभूतों में मिल गये ।

४०. मार्ग पर चलनेवाला ययाति भी, भव्य रथवाला भगीरथ, निन्दा व अयश प्राप्त करनेवाले कौरव, राम, गिरिरजस्, अज,

४१. ये महात्मा महर्षि और महेन्द्र के समान अनेक दूसरे लोग नाश को प्राप्त हुए ; क्योंकि ऐसा कोई नहीं जिसका नाश नहीं होता ।

४२. सूर्य अपने स्थान से च्युत होता है, सम्पत्तिशाली देवगण पृथ्वी पर आये, शत शत इन्द्र चले गये ; क्योंकि कोई सदा नहीं रहता ।

४३. दूसरे सब सम्बुद्धों ने जगत् को प्रकाशित कर उन दीपों के समान, जिनका तेल क्षीण हो गया हो, निर्वाण प्राप्त किया ।

४४. भविष्य में तथागत होनेवाले सब महात्मा भी उन अग्नियों के समान, जिनका जलावन जल गया हो (=भुक्तेन्धनाः), निर्वाण प्राप्त करेंगे ।

४५. इसलिए मुझे भी मुक्ति की खोज करनेवाले वनवासी तपस्वी के समान चला जाना चाहिए ; क्योंकि मैं जो इस व्यर्थ शारीरिक अस्तित्व (=नाम-रूप) को घसीटूँ, इसका कोई कारण नहीं ।

४६. क्योंकि इस रमणीय वैशाली से, जिसमें कुछ लोग दीक्षित होने को हैं ही, मेरा आशय प्रस्थान करने का है, इसलिए तुम्हें दूसरे पथ का अनुसरण न करना चाहिए (या अन्यमनस्क न होना चाहिए)।

४७. अतः इस जगत् को निराश्रय दीन व अनित्य जानो ; और निष्काम भाव से रहते हुए संवेग प्राप्त करो ।

४८. इस तरह संक्षेप में, जब क्रम से तथागत फिर न देख पड़े, तब कुबेर की दिशा (उत्तर) की ओर बढ़ो, जैसे कि जेठ महीने में सूर्य (उत्तर की ही ओर बढ़ता है) ।

४९. तब लिच्छवि अश्रुपूर्ण आँखों से उनके पीछे पीछे जाने लगे ; और आभूषणों-भरी मोटी भुजाओं से उन्होंने हाथ (=करतल) जोड़कर विलाप कियाः—

५०. "अहो ! विशुद्ध-सुवर्ण-सदृश गुरु का शरीर, जो बत्तीस लक्षणों से युक्त है, भग्न होगा । करुणामय भगवान् भी अनित्य हैं ।

५१. बेचारे बछड़े, जिन्हें अब तक होश (बुद्धि) नहीं हुआ है, दूध के अभाव में प्यासे हैं, और ज्ञान की दुधार गाय, अहो ! उन्हें अति शीघ्रता से छोड़ रही है ।

५२. मुनि वह सूर्य हैं, जिनके ज्ञानरूपी प्रकाश ने प्रदीप-रहित मनुष्यों का मोहान्धकार दूर कर दिया है, और यह सूर्य हठात् ही अस्त होगा।

५३. जब कि जगत् में अज्ञान-धारा जहाँ तहाँ बह रही है, धर्म की दूर-व्यापी बाँध शीघ्र ही टूट रहा है।

५४. करुणामय महाभिषक् को उत्तम ज्ञानरूपी ओषधि है, तो भी मानसिक आधियों से पीड़ित जगत् को छोड़कर वह प्रस्थान करेंगे।

५५. मन के हीरों से अलंकृत और प्रज्ञारूपी आभूषणों से भूषित इन्द्र-पताका का पतन होगा, जब कि उत्सव के अवसर पर लोग इसके प्यासे ही हैं।

५६. दुःख-भागी जगत् के लिए, जो भव-चक्र के बन्धनों से बँधा हुआ है, यह मुक्ति-द्वार है और मौत इसे दृढ़तापूर्वक बन्द कर देगी।"

५७. इस प्रकार अश्रु-आविल आँखों से लिच्छवियों ने विलाप किया और जब वे उनके पीछे पीछे जाने लगे, तो मुनि ने उन्हें फिर लौटा दिया।

५८. तब मुनि का निश्चय जानकर वे शान्त हो गये और अत्यन्त शोकित होकर उन्होंने लौटने का विचार किया।

५९. वे, जो सोने के पहाड़ के समान सुन्दर थे, मुनि के पाँव पड़ते समय, कर्णिकार वृक्षों के समान शोभित हुए जिनके फूल हवा में हिल रहे हों।

६०. उनके हृदय उनमें अनुरक्त थे, उनके पाँव लड़खड़ा रहे थे, और धारा के विरुद्ध चलती हुई तरंगों के समान, वे आगे बढ़े विना ही लौट गये।

*६१. ·········, मुनि में उनका आनन्द और मुनि के प्रति उनकी श्रद्धा अविचल थी।

*६२. जंगल से गवांपति के चले जाने पर महावृषभों के समान वे खड़े हो होकर दशबलधारी की ओर बार बार देख रहे थे।

६३. तब तथागत में लगे चित्त से और अत्यन्त कान्तिहीन शरीर से वे शोकित होकर पैदल ही जाने लगे, जैसे अन्त्य कर्म के मृत-स्नान के लिए जा रहे हों।

*६४. लिच्छवि (लाचार होकर) अपने महलों में लौट आये और यद्यपि उन्होंने धनुषों से, जिनका निशाना कभी चूका नहीं, शत्रुओं को पराजित किया था, यद्यपि वे अभिमानी एवं बलवान् थे, यद्यपि वे संसार में साम्राज्य पाने के लिए यत्न करते थे और यद्यपि सुख के साधनों पर उनका अधिकार महान् था, तो भी वे विषण्णवदन थे।

बुद्धचरित महाकाव्य का "लिच्छवियों पर अनुकम्पा" नामक चौबीसवाँ सर्ग समाप्त।

६३—किसी के मरने पर स्नान करने वाले को "अपस्नात" या "मृतस्नात' कहते हैं।

पच्चीसवाँ सर्ग

निर्वाण–पथ पर

१. जब मुनि निर्वाण के लिए चले तब वैशाली निष्प्रभ हो गई, जैसे कि सूर्य-ग्रहण होने पर अन्धकार से ढँका हुआ आकाश (निष्प्रभ हो जाता है) ।

२. सुन्दर और निरभिमान होने पर भी, सर्वत्र रमणीय होने पर भी यह (वैशाली) संताप के कारण शोभित नहीं हुई, जैसे कि पति के मरने पर पत्नी,

३. जैसे कि विद्या के विना सुन्दरता, जैसे कि गुण के विना ज्ञान, जैसे अभिव्यक्ति (की शक्ति) के विना बुद्धि, जैसे संस्कार के विना अभिव्यक्ति (की शक्ति),

४. जैसे सदाचार के विना श्री, जैसे श्रद्धा के विना स्नेह, जैसे उद्योग के विना लक्ष्मी, जैसे धर्म के विना कर्म ।

५. ···उस समय शोक के कारण यह शोभित नहीं हुई, जैसे शरद्‌ऋतु में वर्षा न होने पर सूखी हुई धान की फसल के साथ पृथ्वी शोभा नहीं पाती है ।

६. वहाँ शोक के कारण न किसी ने रसोई बनाई, न भोजन ही किया ; यशस्वी मुनि का यश बखानते हुए वे रोते रहे ।

७. दूसरे लोग न कुछ बोल रहे थे, न कर रहे थे और न सोच रहे थे ; नगर में एक ही काम हो रहा था—शोक और क्रन्दन ।

८. तब सेनापति सिंह अत्यन्त दृढ़ होने पर भी शोकाकुल हुआ और ··· ··· सोचते हुए यों विलाप किया :—

९. "विधर्मी दर्शनों को पराजित कर, उन्होंने सन्मार्ग का उपदेश दिया और स्वयं उस मार्ग पर चले। अब वह सदा के लिये जा रहे हैं।

१०. वह नाथ, दुःखी और निष्प्रभ जगत् को छोड़ते हुए, लोगों को अनाथ कर रहे हैं; इस तरह वह शान्ति (=शम) प्राप्त करने जा रहे हैं।

११. जैसे काल-क्रम से (बुढ़ापे में) शारीरिक ओज क्षीण होता है, वैसे ही मेरा धैर्य नष्ट हो रहा है, क्योंकि गुरुवर योगाचार्य अन्तिम शान्ति के मार्ग पर हैं।

१२. अपनी दिव्य शक्ति खोकर स्वर्ग से च्युत हुए नृपति नहुष के समान पृथ्वी उनके बिना दया का पात्र है, और मैं "किंकर्तव्य-विमूढ़" हूँ।

१३. जैसे आतप से पीड़ित व्यक्ति पानी की शरण में जाता है या शीत से पीड़ित आग की शरण में, वैसे ही अपनी शंकाएँ मिटाने के लिए लोग अब किसकी शरण जायँगे ?

१४. मुनि के नष्ट होने पर—मुनि जो संसार के आचार्य (=लोका-चार्य) हैं और जो आग सुलगानेवाली भाथी की तरह श्रेय की भाथी हैं—धर्म भी नष्ट हो जायगा।

१५. उनके समान दूसरा कौन है जो स्वभावतः रोग व मौत के वशीभूत तथा शील के अभाव या दुःशील से बँधे प्राणियों का महादुःख-चक्र तोड़ सके ?

१६. जैसे वसन्त के अन्त में बादल सूखे हुए सिन्दुवार पौधों को जीवन-दान करता है, वैसे ही कौन दूसरा अपनी वाणीद्वारा काम से अत्यन्त जले हुए मनुष्यों को जिला सकता है ?

१७. जब मेरु के समान ठोस सर्वज्ञ गुरु चले जायँगे, तब जगत् में किसे वह बुद्धि होगी, जिससे वह विश्वास-पात्र बनेगा ?

१८. मूढ़ जीव-लोक मरने ही के लिए पैदा होता है, जैसे दण्डनीय अपराधी को मद पिलाकर वध-स्थल की ओर ले जाते हैं।

१९. जैसे तेज आरे से वृक्ष चीरा जाता है, वैसे ही विनाशरूपी आरे से यह संसार चीरा जा रहा है।

*२०. यद्यपि जगत् के श्रेष्ठ आचार्य को ज्ञान-बल प्राप्त है और उन्होंने दोषों को निःशेष जला डाला है, तो भी वह विनाश की ओर जा रहे हैं।

२१. जो ज्ञानरूपी महानौकाद्वारा संसार-सागर से—इच्छाएँ जिसकी तरंगें हैं, अज्ञान जिसका जल है और जिसमें कुदृष्टिरूपी प्राणी तथा काम (= रजस्) रूपी मछलियाँ रहती हैं— लोगों को उबारते हैं ;

२२. जो ज्ञानरूपी महाशस्त्र से संसाररूपी वृक्ष को—बुढ़ापा जिसकी शाखाएँ हैं, रोग जिसके फूल हैं, मौत जिसका मूल है और जन्म जिसके अङ्कुर हैं—काटते हैं ;

२३. जो ज्ञानरूपी शीतल जलद्वारा, अज्ञानरूपी अरणियों से उत्पन्न दोषरूपी अग्नि को—काम जिसकी ज्वालाएँ हैं और विषय जिसके इन्धन हैं—शान्त करते हैं ;

२४. जिन्होंने शान्ति-मार्ग ग्रहण किया है, जिन्होंने अज्ञानरूपी महा-अन्धकार का परित्याग किया है, परम नैष्ठिक ज्ञान प्राप्त कर जिन्होंने इसका प्रेमपूर्वक उपदेश दिया है ;

२५. जिन्होंने सब दोषों का अन्त कर लिया है, जो सब जीवों पर दया-दृष्टि रखते हैं और जो सबका उपकार करते हैं, वह सर्वज्ञ सब कुछ छोड़ने जा रहे हैं।

२६. यदि महामुनि भी, जिनकी भुजाएँ बड़ी बड़ी हैं और जिनकी वाणी मृदु एवं स्पष्ट है, नाश को प्राप्त हो रहे हैं, तो नाश को प्राप्त होने से कौन बच सकेगा ?

२७. अतः बुद्धिमान् मनुष्य को शीघ्र ही धर्म की शरण में जाना चाहिए, जैसे कि जङ्गल में भटका हुआ काफिले का सौदागर, पानी देखकर, तेजी से उसकी शरण में जाता है।

२८. अनित्यता एक बुराई है जो विनाश-कार्य में भेद-भाव नहीं रखती है, ऐसा जानकर जो मनुष्य धर्म के विषय में प्रसुप्त नहीं रहता, वह पड़े रहने पर भी प्रसुप्त नहीं है।"

२९. तब ज्ञानोपभोक्ता नरसिंह सिंह ने जन्म की बुराइयों की निन्दा की और जन्म-विनाश की प्रशंसा।

३०. जन्म-मूलोच्छेद करने की, सद्व्रत ग्रहण करने की और चञ्चल चित्त को संयत करने की इच्छा से उसने नैष्ठिक मार्ग पर चलने की इच्छा की।

३१. शान्ति-मार्ग पर चलने की, भव-सागर से त्राण पाने की और सदा उदार रहने की इच्छा से उसने जन्म-उच्छेद करना चाहा।

३२. उस समय जब कि मुनि निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा कर रहे थे, उस सिंह ने दान दिया और अभिमान-परित्याग किया, धर्म का ध्यान किया और शान्ति प्राप्त की, और इस तरह उसने पृथ्वी को शून्य पद समझा।

३३. तब गजराज के समान अपना सारा शरीर घुमाकर नगर की ओर देखते हुए, मुनि ने ये वचन कहे :—

३४. "हे वैशाली, अपने जीवन के शेष भाग में मैं तुम्हें फिर न देखूँगा ; क्योंकि मैं निर्वाण की ओर जा रहा हूँ।"

*३५. श्रद्धापूर्वक और धर्म की इच्छा से वे पीछे पीछे आ रहे हैं, यह देखकर मुनि ने उन्हें विदा किया, जिनका चित्त उस समय तक प्रवृत्ति में ही लगा हुआ था।

३६. तब यथाक्रम विनायक भोगनगर की ओर बढ़े और वहाँ ठहरकर सर्वज्ञ ने अपने अनुचरों से कहा :—

३७. "आज मेरे चले जाने पर तुम्हें धर्म में अपना श्रेष्ठ ध्यान लगाना चाहिए। यही तुम्हारा चरम लक्ष्य है ; इसके अतिरिक्त सब कुछ केवल श्रम है।

३८. जो कुछ सूत्रों में समाविष्ट न हो या विनय में दिखाई न पड़े वह सब मेरे सिद्धान्त के प्रतिकूल है और उसे किसी भी प्रकार ग्रहण न करना चाहिए।

३९. क्योंकि वह न तो धर्म है, न विनय, और न मेरे वचन ; यद्यपि बहुत से लोग उसे कहते हों, तो भी अज्ञान-जन्य वचन की तरह उसे अस्वीकार करना चाहिए।

४०. जो पवित्र हैं उनका उपदेश ग्राह्य है, क्योंकि वही है धर्म, विनय और मेरे वचन ; और इसके अनुसार नहीं चलना गढ़े में गिरना है ।

४१. इसलिए जो कुछ श्रद्धा के योग्य है वह संक्षेप से मेरे सूत्रों में कहा गया है । जो कोई उसके अनुसार चलता है, वह विश्वसनीय है, और इसे छोड़कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं ।

४२. मोह-वश अधर्म का प्रतिपादन करनेवाले धार्मिक शास्त्रों की उत्पत्ति होगी, मेरे इन सूक्ष्म विचारों के विषय में अज्ञान और अनिश्चय होने से,

४३. या अज्ञान-मिश्रित विचारों के कारण या विभेदों का ज्ञान नहीं होने से, जैसे कि सोने के समान दिखाई पड़नेवाले पीतल से लोग ठगे जाते हैं ।

४४. इस प्रकार जो धर्म नहीं है, किंतु धर्म का कपट-रूपमात्र, वह वञ्चना है, जिसकी उत्पत्ति होती है प्रज्ञा के अभाव से या तत्त्व को न समझ सकने के कारण ।

४५. इसलिए विनय एवं सूत्रों की सहायता से तुम्हें इसकी उचित रीति से (=न्यायतः) परीक्षा करनी चाहिए, जैसे कि सुनार सोने को तपाकर, काटकर और तार बनाकर परखता है ।

४६. वे मनुष्य बुद्धिमान् नहीं, जो शास्त्रों को नहीं जानते ; वे अनुचित (अन्याय) मार्ग को उचित (न्याय) मार्ग समझते हैं और उचित मार्ग को अनुचित ।

४७. इसलिए शब्द और अर्थ के अनुसार ठीक ठीक सुनकर इसे ग्रहण करना चाहिए ; क्योंकि जो कोई शास्त्र को अनुचित रीति से ग्रहण

करता है वह अपने ही को क्षति पहुँचाता है, जैसे कि तलवार को अनुचित रीति से ग्रहण करनेवाला अपने ही को काटता है।

४८. जो शब्द को ठीक ठीक नहीं समझता है उसके लिए अर्थ दुर्लभ हो जाता है, जैसे कि रात्रिकाल में किसी आदमी के लिए उस घर को पाना (खोजना) कठिन हो जाता है, जहाँ वह पहले कभी न गया हो और जहाँ का रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा हो।

४९. जब अर्थ नष्ट हो जाता है तो धर्म (शास्त्र) नष्ट हो जाता है और धर्म के नष्ट होनेपर योग्यता (पात्रता) नष्ट हो जाती है; इसलिए वह बुद्धिमान् है जिसका चित्त अर्थ को ठीक ठीक समझता है।"

५०. जब भगवान् ये वचन कह चुके, तब वह यथासमय पापा-पुर में गये, जहाँ मल्लों ने उनका पूरा सम्मान किया।

५१. तब भगवान् ने अपने भक्त चुन्द के घर — उसी के लिए, न कि अपने सहारे के लिए — अन्तिम भोजन किया।

५२. तब अपनी शिष्य-मण्डली के साथ भोजन कर चुकने पर तथागत ने चुन्द को धर्मोपदेश दिया और फिर कुशीनगर चले गये।

५३. इस तरह चुन्द के साथ उन्होंने इरावती नदी पार की और स्वयं उस नगर के एक उपवन में शरण ली, जहाँ कमलों का एक शान्त सरोवर था।

५३—"इरावती" के अन्य वैकल्पिक रूप "अचिरावती" "अजिरावती" और "ऐरावती" हो सकते हैं। चीनी अनुवाद में "कुकु" शब्द है, जो पालि के "ककुत्था" के लिए आया है।

५४. उन्होंने, जो सोने के समान चमक रहे थे, हिरण्यवती नदी में स्नान किया और तब शोकाकुल आनन्द को, जो संसार का आनन्द (=लोकानन्द) था, इस प्रकार आदेश दिया :—

५५. "आनन्द, इन जोड़े साल-वृक्षों के बीच मेरे लेटने के लिए स्थान तैयार करो ; आज रात्रि के उत्तर भाग में तथागत निर्वाण प्राप्त करेगा।"

५६. जब आनन्द ने ये वचन सुने, तब आँसुओं से उसकी आँखें भर गईं , उसने बुद्ध के लेटने के लिए स्थान तैयार किया और वैसा कर चुकने पर, विलाप करते हुए उन्हें इसकी सूचना दी ।

५७. तब वह नर-श्रेष्ठ चिरनिद्रा के निमित्त तथा सब दुःखों का अन्त करने के लिए अपनी अन्तिम शय्या के समीप गये ।

५८. अपने शिष्यों के सन्मुख हाथरूपी उपधान पर शिर तथा एक पाँव पर दूसरा पाँव रखते हुए वह दाईं करवट लेट गये।

५९. तब उस समय पक्षियों ने शब्द नहीं किया और वे (पक्षी) शिथिलशरीर हो बैठे रहे, जैसे ध्यानावस्थित हों ।

६०. तब वृक्षों ने, जिनके पत्ते हवा से प्रेरित हुए विना ही हिल रहे थे, विवर्ण फूल गिराये, मानो रो रहे हों ।

६१. जैसे दिवाकर के अस्ताचल पर आने पर, पथिकों को विश्राम-भूमि दिखाई पड़ती है, वैसे ही अन्तिम शय्या पर मुनि को देखकर उन्हें (शिष्यों को) शीघ्र ही उत्तम लक्ष्य दृष्टिगोचर हुआ ।

६२. तब अन्तिम विश्राम-भूमि पर पड़े हुए सर्वज्ञ ने अश्रु-आविल आनन्द से दयापूर्वक कहा :—

६३. "मल्लों से, हे आनन्द, मेरे निर्वाण-प्राप्ति के समय के बारे में कहो ; क्योंकि यदि वे निर्वाण न देखेंगे, तो पीछे बहुत पछतायेंगे।"

६४. तब आँसुओं से मूर्छित होते आनन्द ने आज्ञा-पालन किया और मल्लों से कहा :—"मुनि अन्तिम शय्या पर पड़े हुए हैं।"

६५. तब उस समय आनन्द के वचन सुनकर, दुःख से अभिभूत हो, शोक करते हुए और आँखों से आँसू बहाते हुए वे नगर से ऐसे निकले, जैसे सिंह के डर से साँड़ पर्वत से निकल रहे हों।

६६. आनन्द-रहित होने के कारण उनके कपड़े अस्तव्यस्त थे और पगों के संक्षोभ से उनके शिरोवस्त्र काँप रहे थे। तब वे उस उपवन में उन देवों के समान दुःखी होकर आये, जिनके पुण्य क्षीण हो गये हों।

६७. इस तरह वहाँ आकर उन्होंने मुनि को देखा और देखने के बाद उन्हें प्रणाम करते समय उनके मुख आँसुओं से भर गये। सम्मान प्रकट करने पर संतप्त हृदय से वे वहाँ खड़े रहे और मुनि ने उन्हें कहाः—

६८. "आनन्द के समय शोक करना उचित नहीं। नैराश्य 'अस्थाने' है, शान्ति प्राप्त करो। वह अतिदुर्लभ लक्ष्य, जिसकी मैंने कल्पों से अभिलाषा की है, अब मेरे समीप आ गया है।

६९. वह लक्ष्य अति उत्तम है, भूमि जल अनल अनिल व शून्य—इन तत्त्वों से रहित है, सुखमय व अविकारी है, अतीन्द्रिय शान्त और अहार्य है, उदय एवं व्यय से रहित है। यह सुनकर शोक के लिए स्थान नहीं।

७०. पूर्व में बोधि के समय गया में मैंने अकुशल जन्म के कारणों को सर्पों के समान काट डाला ; किंतु अतीत में एकत्र हुए कर्मों का यह निवास-गृह—यह शरीर—आज तक बचा हुआ है।

७१. क्या मेरे लिए शोक करना उचित है जो तुम सब रो रहे हो, जब कि यह समष्टि — दुःख का महा-कोषगृह — व्यय को प्राप्त हो रहा है, जब कि जन्म का महाभय उन्मूलित हो रहा है और जब कि मैं महादुःख से विदा हो रहा हूँ ?"

७२. जब उन्होंने शाक्यमुनि को बादल की सी आवाज में यह कहते सुना कि उनके लिए शान्ति (निर्वाण) प्राप्त करने का समय आ गया है, तब बोलने की इच्छा से उनके मुख विकसित हुए और उनमें से वृद्धतम ने ये वचन कहे :—

७३. "क्या शोक करना उचित है जो तुम सब रो रहे हो ? मुनि उस मनुष्य के समान हैं जो आग-लगे घर से बच निकला हो, और जब कि देवों के अधिपति भी इसे ऐसा ही समझें तब मनुजों का क्या कहना ?

७४. किंतु इससे हमें दुःख हो रहा है कि शास्ता तथागत निर्वाण प्राप्त कर लेने पर फिर दिखाई न पड़ेंगे ; मरुभूमि में उत्तम पथ-प्रदर्शक के मरने पर किसे अत्यन्त दुःख न होगा ?

७५. सोने की खान से दरिद्र होकर आनेवालों के समान वे लोग अवश्य ही उपहास के पात्र हैं जो महर्षि सर्वज्ञ गुरु का साक्षात् दर्शन कर सन्मार्ग (=विशेष) न प्राप्त करें ।"

७६. इस तरह मल्लों ने पुत्रवत् हाथ जोड़कर बहुत कुछ युक्ति-युक्त कहा और श्रेष्ठ महात्मा ने उत्तम-अर्थ-भरे शब्दों में परम श्रेय एवं शान्ति के उद्देश से यों उत्तर दिया :—

७७. "सच तो यह है कि कठोर योगाचार के विना केवल मेरे दर्शन से ही मुक्ति (निर्वाण) नहीं मिलती ; जो कोई मेरे इस धर्म

को ठीक ठीक समझता है वह मेरे दर्शन के विना भी दुःख के जाल से मुक्त हो जाता है।

७८. जैसे कोई मनुष्य औषधि-सेवन किये विना केवल वैद्य को देखकर ही रोगमुक्त नहीं हो जाता, वैसे ही जो कोई मेरे इस धर्म की भावना नहीं करता वह मेरे दर्शन से ही दुःख-मुक्त नहीं हो जाता है।

७९. इस जगत् में मेरे धर्म को देखनेवाला संयतात्मा मनुष्य दूरवर्ती होने पर भी मुझे देखता है ; और जो श्रेय-परायण नहीं है वह मेरे बगल में रहकर भी बहुत दूर में रहता है।

८०. इसलिए सदा आलस्य-रहित (वीर्यवान्) रहो और मन को वश में रक्खो ; परिश्रमपूर्वक श्रेयस्कर कार्य करो, क्योंकि हवा में जलती दीप-शिखा के समान जीवन चञ्चल और महादुःख के वशीभूत है।

८१. इस तरह मुनिद्वारा, श्रेष्ठ प्राणीद्वारा, उपदिष्ट होकर वे, जिनके चित्त संतप्त थे और जिनकी आँखों से आँसू बह रहे थे, अनिच्छा एवं दीनतापूर्वक कुशीनगर की ओर लौट गये, जैसे प्रतिकूल धारा में नदी का मध्य भाग पार कर रहे हों।

बुद्धचरित महाकाव्य का "निर्वाण-पथ पर"

नामक पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त।



छब्बीसवाँ सर्ग

महापरिनिर्वाण

१. तब त्रिदण्डी सुभद्र ने, जो सद्‌गुणों से सम्यक् युक्त था और जो किसी जीव को क्लेश नहीं देता था, भिक्षु होकर निर्वाण प्राप्त करने के उद्देश से मुनि को देखना चाहा। अतः उसने सबको आनन्दित करनेवाले आनन्द से कहा:—

२. "मैंने सुना है कि मुनि की निर्वाण-प्राप्ति की घड़ी (वेला) आ गई है और इसलिए मैं उन्हें देखना चाहता हूँ ; क्योंकि इस जगत् में प्रतिपदा के चाँद के समान परम धर्म में प्रवेश पाये हुए का दर्शन दुर्लभ है।

३. मैं आपके विनायक को देखना चाहता हूँ, जो सब दुःखों के अन्त की ओर जानेवाले हैं ; बादलों में छिपकर डूबते हुए सूरज के समान वह मेरे देखे विना ही व्यय (अस्त) को प्राप्त न हों।"

४. धर्म-पिपासा के बहाने यह परिव्राजक विवाद करने आया है, इस विचार से आनन्द का चित्त भावाविष्ट हो गया ; और अश्रु-पूर्ण मुख से उसने कहा, "यह (उपयुक्त) समय नहीं।"

५. तब, परिव्राजक की दृष्टि (फूल की) पंखुड़ी के समान विकसित हो रही है, यह देखकर मनुष्यों के आशय जाननेवाले चन्द्रोज्ज्वल मुनि ने कहा, "हे आनन्द, द्विज को न रोको, क्योंकि मेरा जन्म जगत् के हित के लिए हुआ था।"

६. तब आश्वस्त एवं परम प्रसन्न होकर सुभद्र श्रेय-विधायक श्रीघन के समीप गया; और अवसर के अनुकूल शान्त भाव से उन्हें अभिवादन कर उसने ये वचन कहे:—

७. "कहा जाता है कि आपने निर्वाण-मार्ग प्राप्त किया है जो मेरे जैसे दार्शनिकों (=परीक्षक) के (मोक्ष-) मार्ग से भिन्न है; अतः मुझसे इसकी व्याख्या कीजिए, क्योंकि मैं इसे ग्रहण करना चाहता हूँ। आपको देखने की मेरी इच्छा का कारण स्नेह है, न कि विवाद करने की चाह।"

८. तब समीप आये हुए द्विज से बुद्ध ने अष्टाङ्गिक मार्ग की व्याख्या की और उसने इसे ध्यानपूर्वक सुना, जैसे कि मार्ग से भटका हुआ मनुष्य सही आदेश को ध्यानपूर्वक सुनता है, और उसने इस पर ··· अच्छी तरह विचार किया !

९. तब उसने देखा कि जिन रास्तों पर वह पहले चला था उन पर चलने से श्रेय प्राप्त नहीं होता है, और अदृष्टपूर्व मार्ग प्राप्त कर उसने दूसरे रास्तों का परित्याग किया जो कि हृदय के अन्धकार से युक्त हैं।

१०. क्योंकि उन मार्गों पर, कहते हैं, रजस्-युक्त तमस् प्राप्त करने से अकुशल कर्म एकत्र होते हैं, और सत्त्व-युक्त रजस् द्वारा कुशल कर्म बढ़ते हैं।

११. विद्या, बुद्धि व प्रयत्न द्वारा सत्त्व की वृद्धि होने से तथा रजस् व तमस् का तिरोभाव होने से कर्म-फल का नाश होने के कारण कर्म-फल क्षीण हो जाता है (ऐसा वे कहते हैं), और उस कर्म-शक्ति को, जिसे वे मानते हैं, स्वभाव का परिणाम कहते हैं।

१२. संसार में चित्त को मोह में डालनेवाले रजस् और तमस् का कारण वे स्वभाव बताते हैं। क्योंकि स्वभाव नित्य माना जाता है इसलिए वे दोनों (रजस् और तमस्) भी नित्य हैं, और उनका अभाव नहीं हो सकता।

१३. यदि किसी व्यक्ति के सत्त्वयुक्त होने पर उन दोनों का अभाव हो भी जाय, तो काल-वश उनका फिर प्रादुर्भाव होगा, जैसे कि पानी, जो रात को धीरे धीरे बर्फ बन जाता है, काल-क्रम से फिर अपनी स्वाभाविक अवस्था को लौट जाता है।

१४. क्योंकि सत्त्व स्वभावतः नित्य है, इसलिए विद्या, बुद्धि एवं प्रयत्न इसे बढ़ा नहीं सकते ; और क्योंकि इसकी वृद्धि नहीं होती, इसलिए उन दोनों का नाश नहीं होता और क्योंकि उनका नाश नहीं होता, इसलिए (उन मार्गों पर चलने से) नैष्ठिक शान्ति नहीं होती।

१५. पहले उसका मत था कि जन्म स्वभाव से होता है, अब उसने देखा कि उस मत में (वस्तुतः) मोक्ष नहीं है ; क्योंकि यदि जीवन स्वाभाविक है, तो मोक्ष वैसे ही असंभव है जैसे कि प्रज्वलित अग्नि से निकलते हुए प्रकाश को रोकना।

१६. बुद्ध के मार्ग को सत्य देखकर उसने संसार को इच्छा पर आश्रित समझा, इच्छा का नाश होने पर शान्ति (= शम) मिलती है, क्योंकि कारण का विनाश होने से कार्य का भी विनाश होता है।

१७. पहले उसका मत था कि आत्मा शरीर से भिन्न है और विकारवान् (परिवर्तनशील) नहीं है, अब मुनि के वचन सुनने से उसने जाना कि जगत् अनात्म है और (जगत्) आत्मा का परिणाम नहीं है।

१८. यह जानकर कि जन्म अनेक धर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आश्रित है, और कुछ भी अपने पर आश्रित नहीं है, उसने देखा कि प्रवृत्ति दुःख है और निवृत्ति है दुःख से मुक्ति ।

१९. संसार को एक परिणाम समझकर उसने प्रलय का सिद्धान्त छोड़ा, और संसार का व्यय होता है, यह जानकर उसने नित्यता का मत धैर्यपूर्वक शीघ्र ही छोड़ा ।

२०. महामुनि का उपदेश सुनकर और ग्रहण कर, उसने अपने पूर्व मतों का तुरत परित्याग किया; क्योंकि उसने पहले ही अपने को तैयार कर लिया था, जिससे सद्धर्म में वह शीघ्र ही लग गया ।

२१. उसका चित्त श्रद्धा-युक्त हो गया और परम (धर्म) को पाकर उसने शान्त एवं अविकारी पद प्राप्त किया; और इसलिए, वहाँ लेटे हुए मुनि की ओर कृतज्ञतापूर्वक देखते हुए, उसने यह निश्चय किया :—

२२. "मेरे लिए यह उचित नहीं कि यहाँ रहकर मैं पूज्य एवं श्रेष्ठ शास्ता की निर्वाण-प्राप्ति देखूँ ; करुणामय शास्ता की निर्वाण-प्राप्ति से पूर्व ही मैं स्वयं सीधे नैष्ठिक अन्त को प्राप्त होऊँगा ।"

२३. तब मुनि को प्रणाम कर, वह साँप की तरह निश्चल हो गया और हवा से विलीन हुए बादल के समान एक ही क्षण में निर्वाण की शान्ति में प्रविष्ट हुआ ।

२४. तब संस्कारों के जाननेवाले मुनि ने उसके दाह-संस्कार के लिए यह कहते हुए आदेश दिया, "उत्तम शिष्यवाले महामुनि का यह अन्तिम शिष्य अन्त को प्राप्त हुआ ।"

२५. जब रात का पूर्व भाग बीत गया, चन्द्रमा ने ताराओं का प्रकाश ग्रस लिया, और उपवन ऐसे नीरव हो गये जैसे सोये हुए हों, तब महाकारुणिक ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया :—

२६. "मेरे उस पार चले जाने पर तुम्हें प्रातिमोक्ष को अपना आचार्य, अपना प्रदीप और अपना कोष समझना चाहिए। वही तुम्हारा उपदेशक है, जिसके अधीन तुम्हें रहना चाहिए और तुम्हें इसकी आवृत्ति करनी चाहिए, जैसे कि मेरे जीवन-काल में करते थे।

२७. शारीरिक एवं वाणी के कर्मों की शुद्धि के लिए सब सांसारिक कार्यों (= व्यवहार) को छोड़ो तथा भूमि, जीव, अन्न और कोष आदि लेने से (=√ग्रह) वैसे ही बचो जैसे कि आग पकड़ने से (=√ग्रह)।

२८. पृथ्वी पर जो कुछ पैदा होता है उसे काट गिराने से, धरती को खोदने व जोतने से तथा ओषधि एवं ज्योतिष (के व्यवसाय) से विरत रहना जीविका का उचित उपाय है।

२९. घटक (मध्यस्थ) का ज्ञान प्राप्त करने में, तंत्र-मंत्र के प्रयोग में, कुटिल एवं कपटी होने में या शास्त्र-सम्मत सिद्धियों में, न संयम है न संतोष और न जीवन ही।

३०. इस प्रकार प्रातिमोक्ष शील का सार है, मुक्ति का मूल है; इससे समाधि, समस्त ज्ञान एवं अन्तिम लक्ष्य प्राप्त होते हैं।

३१. इसलिए वही धर्मवान् है जिसका शील विशुद्ध व अखण्ड है, अविच्छिन्न व अविनष्ट है, क्योंकि शील ही सद्गुणों का आश्रय है।

२६—प्रातिमोक्ष = भिक्षु-जीवन के पापनिषेधक नियम।

३२. शील के अक्षुण्ण व विशुद्ध रहने पर इन्द्रिय चञ्चल नहीं रहते; क्योंकि, जैसे लाठी लेकर पशुओं को फसल से दूर रखते हैं वैसे ही दृढ़ता पूर्वक छः इन्द्रियों की (विषयों से) रक्षा (=संवरण) करनी चाहिए।

३३. विषयों के बीच इन्द्रियरूपी घोड़ों को (स्वतन्त्र) छोड़नेवाला मनुष्य (सन्मार्ग से) बहकता है और उन (विषयों) से तृप्ति नहीं पाता है। कुमार्ग-गामी घोड़ों के कारण मार्ग-भ्रष्ट हुए के समान वह उनके कारण विपत्ति भोगता है।

३४. इस जगत् में कुछ लोग महाशत्रुओं के हाथ में पड़कर दारुण दुःख भोगते हैं, किन्तु मोहवश विषयों के वशीभूत होनेवाले लोग विवश होकर इस जन्म में और जन्मान्तरों में दुःख के अधीन होते हैं।

३५. अतः इन्द्रियों से वैसे ही दूर रहना चाहिए, जैसे कि बुरे (=विषम) विपक्षी राजाओं से ; क्योंकि इस जगत् में इन्द्रिय-सुख भोगने के बाद मनुष्य जगत् में इन्द्रियों के जल्लाद को देखता है।

३६. संसार में बाघ, साँप, जलती आग या शत्रु से उतना नहीं डरना चाहिए जितना कि अपने ही चञ्चल चित्त से, जो मधु को देखता है किन्तु खतरे को नहीं।

३७. लोहे के अङ्कुश से अनियंत्रित मतवाले हाथी के समान या वृक्षों पर कूदनेवाले शाखामृग के समान चित्त स्वेच्छानुसार सब दिशाओं में घूमता रहता है; इसे चञ्चलता का अवसर ही न देना चाहिए।

---

३६. "यथा पश्यति मध्वेव न प्रपातमवेक्षते।"

—सौ० ग्यारह २९।

३८. चित्त के स्वतन्त्र रहने पर शान्ति नहीं मिलती, किन्तु इसके स्थिर होने पर कार्य पूरा होता है। इसलिए यथाशक्ति यत्न करो जिससे तुम्हारे ये चित्त चञ्चलता से विरत हो जायँ।

३९. ओषधि की मात्रा के समान भोजन की उचित मात्रा का पालन करो, और इससे अनुराग या घृणा न करो, उतना ही खाओ जितना कि क्षुधा-शान्ति और शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है।

४०. जैसे उद्यान में रस-पान करते हुए भौंरे फूलों को नष्ट नहीं करते, वैसे ही अन्य मतावलम्बियों का विनाश नहीं करते हुए (अन्य मतावलम्बी गृहस्थों के लिए भार-स्वरूप नहीं होते हुए) उचित समय पर भिक्षाटन करो।

४१. अत्यन्त भारी बोझ नहीं रखना चाहिए, यह नियम बैल और दाता दोनों ही के लिए लागू है, इस संसार में अत्यन्त भारी बोझ से दबकर बैल गिर पड़ता है और जो हाल बैल का है वही दाता का भी।

३९—"भोजने भव मात्राज्ञ ... ... "—सौ० चौदह १।

भोजन और नींद के लिए देखिये—सौ० चौदह।

४०—"यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।

पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥—ध० प० चार ६।

"जिस प्रकार फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करें।"

४१—पूर्वार्ध का अनुवाद स्वतन्त्र है और उत्तरार्ध का चीनी अनुवाद के आधार पर।

४२. सारा दिन और रात का प्रथम व अन्तिम भाग (=याम) योगाचार में बिताओ और मध्य भाग में स्मृतिपूर्वक सोओ, जिससे कोई अनर्थ न हो।

४३. कालरूपी अग्नि से संसार के जलते रहने पर क्या सारी रात सोना उचित है? जब कि हृदय में रहनेवाले दोष शत्रुओं के समान प्रहार करते हैं, तब कौन नींद के वशीभूत हो?

४४. इसलिए, जैसे कि मंत्र आदि से कृष्ण सर्प को घर से बाहर किया जाता है, वैसे ही ज्ञान और मंत्रोच्चारण द्वारा हृदय में रहनेवाले दोषरूपी साँपों को भगाकर तुम्हें सोना चाहिए, ··· ···।

४५. लज्जा (=ह्री) एक आभूषण है और उत्तम वस्त्र है, मार्ग-भ्रष्टों के लिए अङ्कुश है। ऐसा होने पर तुम्हें लज्जा होनी चाहिए; क्योंकि निर्लज्ज होना गुण-हीन होना है।

४६. मनुष्य जितना ही लज्जावान् होता है, उतना ही उसका (आदर होता) है, और जो निर्लज्ज तथा हित-अहित के विवेक से शून्य है वह नर पशु-तुल्य है।

४७. यदि कोई आदमी तलवार से तुम्हारी भुजाएँ और अङ्ग काट डाले तो भी तुम्हें उसके प्रति पाप-भाव का पोषण न करना चाहिए और न उसे अशान्त शब्द ही कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से तुम्हें ही विघ्न होगा।

४८. क्षमा के समान कोई तप नहीं, जो क्षमावान् है उसे शक्ति है, धैर्य है और जो दूसरों का कठोर व्यवहार नहीं सह सकते वे न तो धर्म-संस्थापकों के मार्ग पर ही चलते हैं और न उनका त्राण ही होता है।

४९. क्रोध को थोड़ा सा भी अवकाश (प्रश्रय) न दो, यह धर्म और यश को नष्ट करता है, रूप का शत्रु है, हृदय की अग्नि है ; गुणों के लिए इसके समान कोई शत्रु नहीं ।

५०. क्रोध प्रव्रज्या के लिए प्रतिकूल है, वैसे ही जैसे कि बिजली की अग्नि शीतल जल के लिए, किंतु क्रोध गृहस्थ-जीवन के लिए प्रतिकूल नहीं है ; क्योंकि गृहस्थ इच्छाओं से भरे होते हैं और इसके सम्बन्ध में कोई व्रत लिए नहीं होते हैं ।

५१. यदि तुम्हारे हृदय में अभिमान का उदय हो, तो सुन्दर बालों से विहीन मस्तक को छूकर, अपने काषाय वस्त्र एवं भिक्षा-पात्र को देखकर, और दूसरों के कर्म (= कर्मान्त) और आचरण का चिन्तन कर, इसे दूर करो ।

५२. यदि अभिमान-युक्त सांसारिक मनुष्य अभिमान को जीतने के लिए (यत्न करे), तो फिर उनका क्या कहना, जिनके मस्तक मुड़े हुए हैं, जिन्होंने अपने को निर्वाण (-धर्म) में लगाया है, जो भिक्षा का अन्न खाते हैं और जिन्होंने अपने को प्रमाणित किया है ?

५३. कपट और धर्माचरण असंगत हैं, इसलिए कुटिल उपायों का सहारा न लो । छल (कपट) और छद्म (= माया) ठगने के लिए हैं, किंतु जो धर्म में लगे हुए हैं उनके लिए ठगना-जैसी कोई चीज नहीं ।

५४. बड़ी बड़ी इच्छाएँ रखनेवाले को जो दुःख होता है वह अल्प इच्छावाले को नहीं होता है । इसलिए अल्पेच्छता का अभ्यास करना चाहिए और विशेषतः उन्हें, जो गुणों की परिपूर्णता चाहते हैं ।

५५. जो धनवानों से बिलकुल नहीं डरता वह कृपणों को देखने से नहीं डरता; जिसकी इच्छाएँ अल्प हैं और जो "कुछ नहीं है" यह सुनकर उदास नहीं होता, उसी को निर्वाण प्राप्त होता है।

५६. यदि तुम निर्वाण चाहते हो तो संतोष का अभ्यास करो, संतोष होने पर ही यहाँ (सच्चा) सुख मिलता है और संतोष ही धर्म है। संतुष्ट मनुष्य भूमि पर भी शान्तिपूर्वक सोते हैं और असंतुष्ट मनुष्य स्वर्ग में भी जलते रहते हैं।

५७. असंतुष्ट मनुष्य अत्यन्त धनवान् होने पर भी सदा दरिद्र ही रहता है और संतुष्ट मनुष्य अत्यन्त दरिद्र होने पर भी सदा धनी ही रहता है। प्रिय विषयों की खोज करनेवाला असंतुष्ट मनुष्य, तृप्ति पाने के लिए श्रम करता हुआ, अपने ही लिए दुःख पैदा करता है।

५८. जो परम शान्ति-सुख पाना चाहते हैं, उन्हें सुख में इतना आसक्त न होना चाहिए। क्योंकि इन्द्र और दूसरे देवगण भी संसार के उस मनुष्य से ईर्ष्या (= √स्पृह्) करते हैं जो केवल शान्ति (की प्राप्ति) में लगा हुआ है।

५९. आसक्ति दुःख का निवास-वृक्ष है ; इसलिए स्वजनों में या दूसरों में आसक्ति छोड़ो। इस संसार में अत्यन्त आसक्त मनुष्य दुःख में वैसे ही फँसता है, जैसे कि जरा-जीर्ण हाथी कीचड़ में।

६०. नदी द्वारा—जिसका जल निरंतर बह रहा हो, अत्यन्त धीरे धीरे ही क्यों नहीं—काल-क्रम से चट्टान की सतह घिस जाती है। वीर्य (उद्योग) के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं। अतः उद्यमी बनो और अपने भार को न फेंको।

५५—पूर्वार्ध का अनुवाद अनिश्चित कहा गया है।

६१. जो मनुष्य अरणियों को रगड़ने में बार बार रुकता है उसके लिए काठ से आग निकालना कठिन हो जाता है, किंतु उद्योग करने से यह आसानी से निकल- आती है। अतः जहाँ परिश्रम है वहाँ सिद्धि है।

६२. स्मृति (जागरुकता) रहने पर दोष काम नहीं करते (अर्थात् निष्क्रिय हो जाते हैं); स्मृति के समान न कोई मित्र है, न कोई रक्षक, और स्मृति के नष्ट होने पर अवश्य ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। अतः शरीर में लगी (= कायगता) स्मृति को शिथिल न करो।

६३. जिनका चित्त दृढ़ है वे शरीर के लिए स्मृतिरूपी कवच पहनकर विषयों की रण-भूमि में उन वीरों की तरह आचरण करते हैं, जो कवच पहनकर शत्रु-व्यूह में निर्भयतापूर्वक घुस जाते हैं।

६४. इसलिए अपने भावों को सम तथा चित्त को नियंत्रित रखते हुए संसार के उदय और व्यय को जानो और समाधि का अभ्यास करो। क्योंकि जिसने मानसिक समाधि प्राप्त कर ली है उसे कोई आधियाँ स्पर्श नहीं करतीं।

६५. जैसे बढ़ते हुए पानी को रोकने के लिए मनुष्य परिश्रम-पूर्वक बाँध बनाते हैं, वैसे ही समाधि को उस बाँध के समान बताते हैं जिसके द्वारा विचाररूपी जल स्थिर किया जाता है।

६६. उस बुद्धिमान् मनुष्य (= प्राज्ञ) का, जो सदा अपनी सम्पत्ति (ऐश्वर्य) दान करता है और हृदय से अत्यन्त धर्माभिमुख रहता है, त्राण होता है; फिर उस भिक्षु के त्राण का क्या कहना, जिसे घर भी नहीं है।

६७. प्रज्ञा, जरा-मरणरूपी महासागर में एक नौका है, मोहान्धकार में मानो एक प्रदीप है, सब व्याधियों को दूर करनेवाली ओषधि है, दोष-रूपी वृक्षों को काटनेवाली तेज कुल्हाड़ी है।

६८. इसलिए प्रज्ञा की वृद्धि के लिए विद्या, ज्ञान और भावना का अभ्यास करो; क्योंकि जिसे प्रज्ञा-चक्षु है, उसे ही वास्तविक दृष्टि है, यद्यपि उस चक्षु में (स्थूल पदार्थों को) देखने की शक्ति नहीं होती।

६९. घर छोड़ने पर भी यदि कोई मनुष्य चित्त के विविध व्यापारों में लगा रहे तो उसका त्राण नहीं होता; जो लोग परम शम प्राप्त करना चाहें वे इसे जानें और सब व्यापारों से मुक्त हो जायँ।

७०. इसलिए अप्रमाद में वैसे ही लगो जैसे कि गुरु में और प्रमाद का वैसे ही परित्याग करो जैसे कि शत्रु का। अप्रमाद द्वारा इन्द्र ने राज्य प्राप्त किया और प्रमाद द्वारा उद्धत असुरों ने विनाश।

७१. करुणामय, सहानुभूतिपूर्ण एवं हितैषी गुरु को जो कुछ करना चाहिए वह सब मैंने किया; अब अपने को लगाओ और चित्त को शान्त करो।

७२. तब, जहाँ कहीं रहो, पर्वत पर या शून्य भवन में या जंगल में, धर्माचरण में सदा प्रयत्नशील (अप्रमत्त) रहो और पश्चाताप न करो।

७३. रोगियों की शारीरिक अवस्थाओं का पूरा पूरा विचार कर, उन्हें उचित ओषधि बताना वैद्य का काम है; किंतु उचित समय पर ओषधि-सेवन करने का उत्तरदायित्व रोगी पर ही है, न कि वैद्य पर।

६८—"प्रज्ञामयं यस्य हि नास्ति चक्षुश्चक्षुर्न तस्यास्ति सचक्षुषोऽपि"
—सौ० अठारह ३५।

७०—"अप्रमाद से ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ बना"—ध० प०, दो १०।

७४. पथ-प्रदर्शक (= देशिक) द्वारा उत्तम सीधा समतल एवं निरापद मार्ग बताये जाने पर, यदि सुननेवाले उस पर नहीं चलें और विनाश को प्राप्त हों, तो पथ-प्रदर्शक के ऊपर आदेशरूपी ऋण शेष नहीं रहता।

७५. तुम लोगों में जिस किसी को दुःख आदि चार सत्यों के मेरे उपदेश के बारे में (कुछ भी जानने की) इच्छा हो, वह तुरत मुझसे विश्वासपूर्वक कहे और अपना संशय दूर करे।"

७६. महामुनि द्वारा इस तरह जोरों से कहे जाने पर वे सब संशय-रहित थे और वे कुछ नहीं बोले। तब अपने चित्त से उनके चित्तों में प्रवेश कर, साधु (= कृती) अनिरुद्ध ने ये वचन कहे :—

७७. "हवा का बहना बन्द हो जाय, सूरज शीतल हो जाय और चाँद गर्म, तो भी जगत् में चार सत्यों को मिथ्या प्रमाणित करना शक्य नहीं।

७८. जिसे दुःख कहा गया है वह सुख नहीं ; दुःख के कारण को छोड़कर दुःख पैदा करनेवाला दूसरा कुछ नहीं ; कारण का निरोध होने से मुक्ति अवश्य होती है और (निरोध-) मार्ग ही उपाय है।

७९. इसलिए, हे महात्मन्, चार सत्यों के बारे में शिष्यों को कुछ संशय नहीं है ; किंतु जिन्होंने अपना लक्ष्य सिद्ध नहीं किया है वे यह सोचकर दुःखी हो रहे हैं कि विनायक जा रहे हैं।

८०. इस सभा में, जिसने नये व्रत (नई दीक्षा) के कारण अपने लक्ष्य को नहीं देखा था, वह भी आज आपके इस उपदेश से अपने सम्पूर्ण लक्ष्य को वैसे ही देख रहा है जैसे कि बिजली की चमक में (देख रहा हो)।

८१. किंतु वे भी, जिन्हें कुछ भी करना शेष नहीं है और जो भवसागर के उस पार चले गये हैं, यह सुनकर हृदय से चिन्तित हो रहे हैं कि पूर्ण शास्ता विदा हो रहे हैं।"

८२. आर्य अनिरुद्ध के ये वचन सुनकर बुद्ध ने, असलियत को जानते हुए भी, इसे फिर से सुना और अपने शिष्यों के चित्त दृढ़ करने के लिए उनसे स्नेहपूर्वक कहा :—

८३. "युगपर्यन्त रहने पर भी प्राणी का विनाश होता ही है, इसलिए पारस्परिक संयोग या मिलन जैसी कोई (स्थायी) वस्तु नहीं है। मैंने अपना और दूसरों का काम पूरा कर लिया है, अब और जीवित रहने में कोई लाभ नहीं।

८४. स्वर्ग में और पृथ्वी पर जिन्हें दीक्षित करना था वे सब बचाये गये और मार्ग पर लाये गये (स्रोत-आपन्न किये गये)। इसके बाद मेरा यह धर्म भिक्षुओं की वंश-परम्परा से मनुष्यों के बीच रहेगा।

८५. जगत् के वास्तविक स्वभाव को पहचानो और चिन्तित मत होओ ; क्योंकि वियोग अवश्यम्भावी है। संसार को ऐसा जानकर वैसा यत्न करो जिससे यह फिर कभी न हो।

८६. जब ज्ञानरूपी प्रदीप से अन्धकार में प्रकाश हो जाता है और भवों को असार देख लिया जाता है, तब आयु का निरोध होने पर वैसे ही संतोष होता है, जैसे कि रोगों के दूर होने पर।

८७. जब द्वन्द्वों सहित छूटनेवाले शरीर नामक भव-सागर की धारा कट रही हो, तब जीवन का अन्त होने पर, जैसे कि विपत्ति-प्रद शत्रुओं का नाश होने पर, किसे आनन्द न होगा ?

८८. सब चराचर का विनाश होता है, अतः जागरुक रहो ; मेरी निर्वाण-प्राप्ति का समय आ गया है। विलाप मत करो; ये मेरे अन्तिम वचन हैं।"

८९. तब वह श्रेष्ठ ध्यानज्ञ उस समय प्रथम ध्यान में प्रविष्ट हुए और उससे निकलकर दूसरे में, और इसी तरह उचित क्रम से वह किसी को छोड़े बिना सब (ध्यानों) में प्रविष्ट हुए।

९०. तब सब ध्यानों से, नौ समापत्तियों से ऊर्ध्व (अनुलोम) क्रम से निकलकर, महामुनि फिर निम्न (प्रतिलोम) क्रम से प्रथम ध्यान में लौट आये।

९१. उससे भी निकलकर वह उचित क्रम से चतुर्थ ध्यान में आये और चतुर्थ ध्यान से निकलकर वह अनन्त शान्ति अनुभव करने को चले गये।

९२. तब मुनि का परिनिर्वाण होने पर, तूफ़ान से प्रतिहत नौका के समान पृथ्वी काँप उठी, और आकाश से उल्काएँ गिरीं, जैसे दिग्गजों द्वारा फेंकी गई हों।

९३. जलावन और धुएँ से रहित आग, हवा से प्रेरित हुए बिना ही, दिशाओं को जलाने लगी, जैसे दिव्य चित्ररथ वन को जलाने के लिए आकाश में दावानल उठा हो।

९४. भयङ्कर वज्र, शत शत अङ्गारों से आग उगलते हुए, गिरने लगे, जैसे युद्ध में असुरों को जीतने के लिए इन्द्रदेव क्रोधपूर्वक उन्हें (वज्रों को) फेंक रहा हो।

९५. धूल-भरी हवा लताओं को टुकड़े टुकड़े करती हुई जोरों से बही, और क्रुद्ध झंझावात से आहत हुए पर्वतों की चोटियाँ गिर पड़ीं।

९५—इसका उत्तरार्द्ध चीनी अनुवाद से लिया गया है।

९६. चाँद का प्रकाश क्षीण हुआ और यह अपनी निष्प्रभ किरणों से वैसे ही शोभित हुआ, जैसे पङ्किल जल से लिप्त राजहंस, जिसका शरीर छोटे छोटे बेतों (या नरकटों) से घिरा हो।

९७. यद्यपि आकाश अनभ्र था और चाँद उगा हुआ था, तो भी अपवित्र अंधकार चारों ओर फैल गया था। और उस समय नदियों का जल मानो शोक से खौल रहा था।

९८. तब समीपवर्त्ती शाल-वृक्षों ने झुककर असमय के सुन्दर फूल बुद्ध के शरीर पर·········बरसाये।

९९. आकाश में पाँच शिरवाले नाग निश्चल खड़े रहे, वे मुनि को भक्तिपूर्वक देख रहे थे, उनकी आँखें शोक से लाल थीं, उनके फन बन्द थे, और उनके शरीर नियंत्रित थे।

*१००. मानसिक पीड़ा के कारण उन्होंने गर्म निश्वास छोड़े, किंतु यह सोचकर कि जगत् स्वभावतः अनित्य है, उन्हें शोक से विरति एवं जगत् से घृणा हो गई।

१०१. दिव्य लोक में नैष्ठिक धर्म के आचरण में रत राजा वैश्रवण की धर्म-सभा ने धर्म में आसक्ति होने के कारण न शोक किया न आँसू बहाये।

१०२. पवित्र (=कृती) शुद्धाधिवास देवगण, यद्यपि वे महामुनि का अत्यन्त सम्मान करते थे, शान्त रहे और मन में क्षुब्ध नहीं हुए ; क्योंकि उन्हें जगत् के स्वभाव से घृणा थी।

१०३. सद्धर्म में आनन्द पानेवाले देवगण, गन्धर्व-राज, नाग-राज और यक्ष अत्यन्त शोक-मग्न और व्याकुल होकर आकाश में खड़े रहे।

१०४. किंतु, मार की हार्दिक अभिलाषा पूरी हुई, उसके दल ने आनन्द में आकर अट्टहास किया, उछल-कूद की, साँपों के समान फूत्कार किया, नृत्य किया और बड़े बड़े मृदङ्ग एवं पटह बजाये।

१०५. तब ऋषि-ऋषभ (बुद्ध) के उस पार चले जाने पर संसार उस पर्वत के समान दिखाई पड़ा, जिसकी चोटी वज्र से कट गई हो, या उस उदास हाथी के समान जिसका मद बन्द हो गया हो, या उस वृषभ के समान जिसका ककुद नष्ट हो गया हो।

१०६. उन जन्म-विनाशक को खोकर, संसार वैसे ही दिखाई पड़ा जैसे कि विना चाँद का आकाश, या हिम से सूखे कमलों का सरोवर या धन के अभाव से निष्फल हुई विद्या (दिखाई पड़े)।

बुद्धचरित महाकाव्य का "महापरिनिर्वाण" नामक
छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त।

सत्ताईसवाँ सर्ग

निर्वाण की प्रशंसा

१. तब किसी बड़े देवता ने······विमान से अपना शिर कुछ बाहर झुकाकर सर्वज्ञ की ओर एक क्षण तक देखा और कहाः—

२. "अहो ! सब जीव अनित्य हैं और जन्म एवं विनाश के नियम के अधीन हैं, जो जन्म लेते हैं उनके भाग्य में दुःख है। इस प्रकार शान्ति उसी शान्ति से मिलती है, जो अपने पीछे कुछ छोड़ नहीं जाती।

३. जैसे कि जल अग्नि को शान्त करता है वैसे ही कालरूपी जल को तथागतरूपी अग्नि शान्त करनी पड़ी, जिसकी ज्वाला ज्ञान है, जिसका धुआँ यश है, और जिसने जन्मरूपी इन्धन को निःशेष जला डाला है।"

४. तब श्रेष्ठ ऋषि के समान दिखाई पड़नेवाले दूसरे ऋषि ने, जो स्वर्ग में रहते हुए भी उसके उपभोगों से आकृष्ट नहीं हुआ, अर्हत् ऋषि की ओर देखा, जिन्होंने शान्ति प्राप्त कर ली थी ; और गिरिराज के समान धैर्य धारण करते हुए, उसने ये वचन कहेः—

५. "इस संसार में ऐसा कुछ नहीं जो नाश को नहीं प्राप्त होता है, जो नाश को नहीं प्राप्त हुआ और जो नाश को नहीं प्राप्त होगा, यह देखकर कि अनुपम गुरु, जिन्होंने परम ज्ञान प्राप्त किया था और जो उत्तम लक्ष्य (=परमार्थ) को जानते थे, शान्ति को प्राप्त हुए।

६. जीवलोक, जिसकी आँखें मोह से अवश्य ही अन्धी हो गई हैं, इन नेता से वञ्चित हुआ, जिनकी प्रज्ञा विशुद्ध थी और जिन्हें उत्तम दृष्टि प्राप्त थी ; और होश खोकर यह लोक कुमार्ग में स्थित है ।"

७. तब मुनि का निर्वाण होने पर अनिरुद्ध ने, जिसने संसार को जीत लिया था, जिसकी आसक्ति नष्ट हो गई थी और जिसने जन्म-निरोध कर लिया था, जगत् को प्रकाश से वञ्चित हुआ देखकर, शान्तिपूर्वक यों कहाः—

८. "संस्कारों के अधीन रहनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य को इस समय विश्वास नहीं करना चाहिए, जब कि ऋषिरूपी महापर्वत पर अनित्यता रूपी वज्र के गिरने से चोट पड़ी है ।

९. अहो ! इस असार अनात्म एवं विनाशधर्मा जगत् को जीव-लोक कहते हैं, जिसमें मुनि—दुर्धर्ष सिंह—दोरूपी हाथियों को नष्ट करके स्वयं नाश को प्राप्त हुए ।

१०. जगत् सदा कर्मशील और कामासक्त है ; अब किसका हाथ सुरक्षा प्रदान करेगा, जब कि तथागत भी साधारण भाग्य के अधीन होकर सुवर्ण-स्तम्भ के समान गिर पड़े ?

११. मुनिरूपी हाथी ने दोषरूपी वृक्ष को—जिसके बीज छः हैं, अङ्कुर एक, बलि एक, मूल छः, फल पाँच, शाखाएँ दो,······, और तना एक—उखाड़ डाला ; तो भी वह यहाँ पड़े हुए हैं ।

१२. सम्राट् के समान सभी शत्रुओं को जीतकर, ग्रीष्म ऋतु में मोर के समान आसक्ति-रहित होकर, घोड़े के समान अपनी यात्रा पूरी कर, (इन्धन-रहित) अग्नि के समान जन्म-मुक्त होकर, मुनि शान्ति को प्राप्त हुए ।

१३. जैसे कि वज्र-चालक स्वर्ग-पति प्रसन्न होकर तृप्ति-कर जल-धाराएँ भेजता है, वैसे ही गुरु ने अपने उपदेश भेजे और प्रखर दीप्ति से पीड़ित वृषभ के समान पृथ्वी पर घूमते हुए उन्हों ने अपने यश से दिशाओं को व्याप्त किया ; तो भी वह यहाँ पड़े हुए हैं।

१४. वह नर-सूर्य द्रविण-पति वैश्रवण के दल से परिवृत होकर अपने मार्ग पर चले, और उन यशस्वी एवं तेजस्वी ने नदी (=सिन्धु) के समान सुवर्ण-राशि दी, तो भी उनका अस्त हुआ।

१५. आज मुनि का निर्वाण होने पर जगत् वैसे ही निष्प्रभ है जैसे कि कुहासे से भरी दिशाएँ, जैसे कि सूरज जिसकी किरणें बादलों से कट रही हों, जैसे कि आहुति पूरी होने पर घी-रहित आग।

१६. कुटिलता (=ग्रन्थि)–रहित होकर उन्हों ने सत्य का (सीधा) मार्ग ग्रहण किया और बन्धन (=ग्रन्थि)–रहित होकर उन्होंने शम धर्म प्राप्त किया। ऋद्धि द्वारा जीवन-धारण करने में समर्थ होने पर भी उन्होंने शरीर नामक दुःख-निवास का परित्याग किया।

१७. जैसे सूर्य अन्धकार को दूर करता है, वैसे ही अज्ञान को जीतकर और जैसे जल-धारा धूल को शान्त करती है, वैसे ही काम को शान्त कर, मुनि······चले गये, घूमते हुए दुःख-चक्र में फिर कभी लौटने को नहीं।

१८. जन्मरूपी दुःख को नष्ट करने के लिए उनका जन्म हुआ था, शान्ति के लिए जगत् उनकी शरण में आया, वह उज्ज्वल तेज से चमके और उन्होंने विशिष्ट बुद्धि से प्रकाशित किया।

१९. उन्होंने लोगों को श्रेय की ओर भेजा, उन्होंने पृथ्वी को अपने उत्तम गुणों से व्याप्त किया, उनके यश में वृद्धि हुई।

---

१९ अनिश्चित।

२०. अपनी विपुल विद्या के कारण वह निंदा सुनकर उदास नहीं होते थे, वह दुखियों से दयापूर्वक बोलते थे, वह दूषित भोजन ग्रहण नहीं करते थे और अच्छा भोजन पाकर उन्हें आनन्द नहीं होता था।

२१. वह अपनी चञ्चल इन्द्रियों को शान्त रखते थे और अपनी मानसिक शक्ति (इच्छा-शक्ति) के कारण ठीक ही विषयासक्त नहीं होते थे। दूसरोंद्वारा अप्राप्त मार्ग को पाकर उन रसज्ञ ने नैष्कर्म्य-रस का आस्वादन किया।

२२. उन्होंने वह दिया, जो पहले किसी मनुष्य ने नहीं दिया था और उनके दान, फल की इच्छा से प्रेरित नहीं होते थे; उन्होंने अविचल चित्त से राज्य छोड़ा और अपने गुणों से सज्जनों के चित्त आकृष्ट किये।

२३. उन्होंने दृढ़तापूर्वक अपनी चञ्चल आँखों की रक्षा की। वह सदाचार द्वारा अपने चित्त की रक्षा किया करते थे। उन्होंने श्रेय की रक्षा एवं वृद्धि की। उन्हें किसी उत्पन्न धर्म (वस्तु) की अभिलाषा नहीं हुई।

२४. बुरे कर्मों को बुरा समझकर उन्होंने छोड़ दिया और श्रेय द्वारा दोषरूपी शत्रुओं से अपने को मुक्त किया। उन्होंने बुद्धिद्वारा पापों को सर्वथा उन्मूलित किया, तो भी वह (मुनि), अनार्य अनित्यता के वशीभूत हुए।

२५. उन्होंने ठीक ठीक धर्म का पालन किया और आनन्दपूर्वक उत्तम निश्चय ग्रहण किये; तो भी वह शास्ता, जिन्हें ज्ञान का खजाना था, उस अग्नि के समान शान्त हो गये, जिसका इन्धनरूपी कोष समाप्त (उपभुक्त) हो गया हो।

२६. गुरु यहाँ पड़े हुए हैं, जिन्होंने आठ के बारे में पाँच के समूह को अच्छी तरह जीता, जिन्होंने तीन को देखा, जिन्होंने त्रिविध आचरण का अन्त किया, जिन्हें त्रिविध दृष्टि थी, जिन्होंने एक की रक्षा की, जिन्होंने एक को प्राप्त किया, जिन्होंने एक का चिन्तन किया, जिन्होंने सात भारी चीजों (= गुरूणि ?) का परित्याग किया।

२७. उन्होंने शान्ति के लिए मार्ग को प्रकाशित किया और कृपा-पूर्वक सज्जनों को श्रद्धावान् बनाया। उन्होंने पापरूपी वृक्षों को काटा और श्रद्धावानों को भवों से मुक्त किया।

२८. अपने वचनामृत से उन्होंने जगत् को खूब तृप्त किया और क्षमाद्वारा क्रोध को जीता। उन्होंने अपनी शिष्यमण्डली को श्रेय में रमाया और श्रेय चाहनेवालों को सूक्ष्म परीक्षण में लगाया।

२९. उन्होंने सज्जनों के भीतर धर्माङ्कुर उत्पन्न किया और वह उन्हें आर्य-मार्ग पर ले आये, जिसका सार है "कारण"; यद्यपि उन्होंने अनार्यों को लोकोत्तर तरीके से नहीं सिखाया तो भी उन्हें सद्धर्म के अतिरिक्त दूसरे मार्ग पर नहीं स्थापित किया।

३०. काशी में उन्होंने धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन किया और अपने ज्ञानद्वारा जगत् को संतोष का दान दिया; जिन्हें दीक्षित करना था उनसे उन्होंने धर्माचरण कराया और हमारे हित के लिए हमें सुख दिया।

३१. दूसरों को उन्होंने अदृष्टपूर्व तत्त्व का दर्शन कराया और धर्म पर चलनेवालों को उन्होंने गुणों से युक्त किया। दूसरे दर्शनों का खण्डन कर, युक्तिद्वारा उन्होंने लोगों को दुर्बोध अर्थ का बोध कराया।

३२. सब कुछ अनित्य और अनात्म है, ऐसा उपदेश देकर और भवों में कुछ भी सुख नहीं है, ऐसा बतलाकर उन्होंने अपनी यश-पताका ऊँची उठाई और अभिमान के ऊँचे खम्भों को उलट दिया।

३३. निन्दा से उनके चित्त में क्षोभ नहीं हुआ और किसी भी बात में उन्हें सांसारिक प्रवृत्ति की इच्छा नहीं हुई ··· ··· ···।

३४. स्वयं पार होकर उन्होंने डूबते हुए लोगों को पार किया ; स्वयं शान्ति प्राप्त कर उन्हें शान्ति दी, जो क्षुब्ध थे ; स्वयं मुक्त होकर उन्हें मुक्त किया जो बँधे हुए थे ; स्वयं प्रकाश पाकर दूसरों के मोहान्धकार को प्रकाशित किया।

३५. न्याय एवं अन्याय को जाननेवाले महामुनि जगत् को सदुपदेश से अनुगृहीत कर चले गये, जैसे कि आपत्काल में, जब कि जीव अन्याय-मार्ग पर चलते हैं और उसी में प्रसन्न रहते हैं, धर्म चला जाता है !

३६. संसार की दृष्टियों (मतों) को जीतकर भी, वह सजल मेघ के समान, पहाड़ पर के जंगल के समान, गौरवशाली वृद्ध पुरुष के समान और दीप्तिमान् युवक के समान, संसार की दृष्टि को आकृष्ट करते हुए चले।

३७. ··· ··· वह परम शान्ति के मार्ग पर चले, और श्रद्धावान् जगत्, जिसने उन्हें शान्ति प्राप्त करते देखा, आज उस स्नेही मनुष्य के समान है जो पितृ-विहीन हो गया हो।

३८. मार भी, जिसने अपने दल-बल के साथ मुनि को नष्ट करने के लिए प्रचण्ड क्रोध किया था, उनका मुकाबला न कर सका ; तो भी उन्हें नष्ट करने के लिए प्रचण्ड क्रोध करनेवाला मार आज मौत से मिलकर उन्हें गिराने में समर्थ हुआ।

३९. सब जीव जिनके लिए भव-चक्र का भय अब तक दूर नहीं हुआ है, देवताओं के साथ एकत्र हुए हैं और दुःख से अभिभूत हैं ; क्योंकि शोक के परे जो उत्तम मार्ग है, वह उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है।

४०. सब जीवों को आलोकित करते हुए उन्होंने जगत् को ऐसे देखा, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित हो और अपनी दिव्य श्रवण-शक्ति से उन्होंने दूर एवं निकट के, स्वर्ग तक के भी, सब शब्द सुने।

४१. वह आकाश के नक्षत्र-प्रासाद पर चढ़े, पृथ्वी में विना किसी बाधा के प्रविष्ट हुए, पानी पर विना डूबे हुए चले और अपने शरीर से उन्होंने विविध रूप पैदा किये।

४२. उन्हें अपने बहुत-से (पूर्व-) जन्म याद थे, जैसे कि यात्री को मार्ग के विविध विश्राम-स्थल याद रहते हैं और उन्होंने अपने चित्त से दूसरों के मानसिक व्यापारों को (=मनः प्रचारान्) जाना, जो इन्द्रियों की बोध-शक्ति के क्षेत्र से परे हैं (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते)।

४३. वह सब के साथ समान व्यवहार करते थे और सर्वज्ञ थे, उन्होंने सब आस्रवों (चित्त-मलों) को काट डाला और सब कार्य को पूरा किया, ज्ञान-द्वारा उन्होंने दोषों को छोड़ा और ज्ञान-तत्त्व प्राप्त किया, तो भी वह यहाँ पड़े हुए हैं।

४४. उन्होंने उन लोगों को दीक्षित किया, जिनके चित्त पटु थे और मन्द चित्तों को धीरे धीरे पटुता की ओर प्रेरित किया। धर्म-ज्ञान-

४०-४३:—४०-४२ में अभिज्ञाओं का वर्णन है और ४३ में आस्रवक्षय-ज्ञान का ; विशेष विवरण के लिये देखिए—अ० को० ७.४२।

द्वारा उन्होंने उन लोगों से पाप छुड़वाया। अब अमृत प्राप्त करने का धर्म कौन बतायेगा ?

४५. उत्पीड़ित एवं निराश-जगत् की शान्ति के लिए कौन धर्म प्रदान करेगा ? अपना कार्य पूरा कर कौन दयालु दूसरों का दोष-जाल काटेगा ?

४६. भवचक्र के महासागर में डूबे हुए जगत् की शान्ति के लिए उत्तम ज्ञान कौन बतायेगा ? अज्ञान-मग्न संसार के सुख के लिए उत्तम ज्ञान कौन बतायेगा ?

४७. उन संसारज्ञ के विना यह संसार, प्रकाश-रहित दिवाकर के समान है या प्रवाह-रहित नदी (= सिन्धु) के समान या उस राजा के समान, जिसका राज्य नष्ट हो गया हो।

४८. उन नर-श्रेष्ठ के विना यह संसार बुद्धि-रहित विद्या के समान, विवेक-रहित परीक्षण के समान, प्रताप-रहित राजा के समान, क्षमा-रहित धर्म के समान, होकर भी नहीं है।

४९. सुगत को खोकर संसार, सारथि द्वारा परित्यक्त रथ के समान, या कर्णधार द्वारा परित्यक्त नाव के समान या सेनापति द्वारा परित्यक्त सेना के समान, या नायक द्वारा परित्यक्त काफिले (=सार्थ) के समान, या वैद्य द्वारा परित्यक्त रोगी के समान है।

५०. आज निर्वाण चाहनेवालों का दुःख वैसे ही है जैसे कि शरद् ऋतु में विना बादल का आसमान जो चाँद से सूना हो, जैसे कि आकाश जिसमें हवा नहीं बह रही हो, जैसे कि उन लोगों का दुःख जो जीवित रहना चाहते हों (किंतु मर रहे हों)।"

५१. यद्यपि वह अर्हत् था, जिसने अपना अच्छा काम पूरा कर लिया था, तो भी जन्म (जीवन, संसार) की बुराइयों तथा गुरु के गुणों के बारे में उसने बहुत कुछ कहा ; क्योंकि वह गुरु के प्रति कृतज्ञ था।

५२. जो निष्काम नहीं हुए थे उन्होंने आँसू बहाये और भिक्षुओं ने धैर्य खोकर शोक किया ; किंतु जिनका (भव–) चक्र पूरा हो गया था उन्होंने सोचा कि जगत् मरणशील (व्ययधर्मा, नाशवान्) है और वे आत्मसंयम से विचलित नहीं हुए।

५३. तब समाचार सुनकर, मल्ल लोग विपत्ति के बोझ से दबे हुए यथासमय तेजी से निकल आये और बाज की शक्ति से अभिभूत बगलों के समान वे कष्टपूर्वक बोले, "हा ! त्राता !"

५४. जब उन्होंने मुनि को प्रकाश-रहित सूर्य के समान वहाँ पड़ा हुआ देखा, तब मन के महा-अन्धकार के कारण वे रोये और भक्ति-वश ऊँचे स्वर से उन्होंने विलाप किया, जैसे सिंह के द्वारा गवांपति के मारे जाने पर गाय-बैल (रोते बिलखते हैं)।

५५. धर्म-गुरु का निर्वाण होने पर जिन लोगों की आँखें आँसुओं से अभिभूत थीं और जो लोग अपने अपने विश्वास (पंथ) एवं स्वभाव के अनुसार शोक कर रहे थे, उनमें एक अत्यन्त तेजस्वी एवं धर्म-रत पुरुष था; उसने ये वचन कहे :—

५६. "जिन्होंने सोये हुए जगत् (जीव-लोक) को जगाया, वह अब अन्तिम शय्या पर पड़े हुए हैं। धर्म की मूर्ति, यह पताका, गिरी हुई है, जैसे कि उत्सव का अन्त होने पर इन्द्र की पताका (गिर पड़ती है)।

५७. तथागतरूपी सूर्य ने बुद्धत्वरूपी तेज से, उद्योगरूपी गर्मी से, और ज्ञानरूपी सहस्र किरणों से, अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर किया ; अब अस्त होकर इस (सूर्य) ने संसार में फिर अंधकार फैला दिया।

५८. अब जगत् का नेत्र निष्ठुरतापूर्वक बन्द हो गया, जिसने अतीत अनागत और वर्तमान को देखा ; बाँध निष्ठुरतापूर्वक टूट गया, जिसने दुःख रूपी महासागर की ··· तरंगों से हमें बचाया।"

५९. इस तरह वहाँ कुछ लोगों ने दीनतापूर्वक विलाप किया, दूसरों ने रथ के घोड़ों के समान झुककर शोक किया, कुछ लोग रोये, दूसरे भूमि पर पड़ रहे। प्रत्येक आदमी ने अपने स्वभाव के अनुसार आचरण किया।

६०. तब रोते हुए मल्लों ने बड़े बड़े हाथियों की सूँड़ों के सदृश भुजाओं से मुनि को यथासमय एक नई बहुमूल्य एवं सुवर्ण-खचित पालकी (= शिबिका) पर रक्खा।

६१. तब समयोचित विधि से उन्होंने भाँति भाँति की मनोहर मालाओं एवं अति उत्तम सुगंधों से उनका सम्मान किया और फिर स्नेह एवं भक्ति से उन सबने पालकी पकड़ी।

६२. तब कोमलाङ्गी कुमारियों ने, जिनके नूपुर बज रहे थे, अपने ताम्रवर्ण हाथों से उस (पालकी) के ऊपर एक बहुमूल्य वितान धारण किया, जो बिजली की चमक से उज्ज्वल बादल के समान जान पड़ा।

६३. उसी प्रकार कुछ लोगों ने श्वेत मालाओं से युक्त छत्र पकड़े, और दूसरों ने सोने से मढ़े सफ़ेद चँवर डुलाये।

६४. तब वृषभ की सी लाल आँखोंवाले मल्ल पालकी को धीरे धीरे ले जाने लगे, और श्रुति-सुखद तूर्य आकाश में बजने लगे, जैसे वर्षा-ऋतु में बादल गरज रहे हों।

६५. दिव्य कुसुम, कमल और भाँति भाँति के फूल आसमान से गिरे, मानो दिग्गजों से प्रकम्पित चित्ररथ-वन के वृक्षोंद्वारा (वे फूल) गिराये गये हों।

* ६६. ऐरावत से उत्पन्न बड़े बड़े हाथियों ने मणिमय भीतरी भागवाले कमल और जल-कण-वर्षी ··· ··· मन्दारव फूल बरसाये।

*६७. तब गन्धर्वों की रानियों ने, जिनके शरीर आनन्द-मूहूर्त के लिए उत्पन्न हुए थे, लाल चन्दन को मिटाकर, श्वेत वस्त्र फेंके, जो लीलापूर्वक सजाये गये थे।

६८. चञ्चल पताकाओं को ऊपर उठाये हुए और सब प्रकार की मालाएँ चारो ओर बिखेरते हुए, वे पालकी (= शिविका) को मङ्गल के लिए (= शिवाय) मङ्गलमय (= शिवेन) मार्ग से संगीत के साथ साथ ले गये।

६९. मुनि की दिव्य (पारमार्थिक) शक्ति के कारण सौ सौ बार प्रणाम करते हुए और उनकी मृत्यु पर रोते हुए, मल्लों ने भक्ति-पूर्वक पालकी ढोई और इस प्रकार इसे वे नगर के मध्य भाग में ले गये।

६५—पाद २–४ की तुलना सौ० दो ५३ के पारे २–४ से कीजिए:—

"·········पुष्पवर्षं पपात खात्।
दिग्वारणकराधूताद्वनाच्चैत्ररथादिव॥"

७०. नाग-द्वार से बाहर होकर उन्होंने हिरण्यवती् नामक नदी पार की और मुकुट नामक चैत्य के नीचे उन्होंने उनके यश के अनुरूप एक चिता बनाई।

७१. तब उन्होंने चिता के ऊपर सुगन्धित वल्कलों, पत्तों, अगुरु, चन्दन और एलगज का ढेर लगा दिया और शोक से साँपों के समान लम्बी साँसें लेते हुए, चञ्चल आँखों से मुनि के शरीर को उस पर रख दिया।

७२. तब यद्यपि उन्होंने प्रज्वलित दीप को तीन बार उसमें लगाया, तो भी महामुनि की चिता में आग नहीं लगी, जैसे क्लीव राजा की,··· ···, राज्य-लक्ष्मी अग्नि ग्रहण नहीं करती है।

७३. काश्यप, विशुद्ध चित्त से भावना करते हुए, मार्ग होकर आ रहा था और भगवान् के पवित्र अवशेषों को देखने की उसकी इच्छा-शक्ति ही के कारण आग नहीं लगी।

७४. तब उस समय गुरु को देखने की इच्छा से शिष्य शीघ्र ही आ गया और जैसे ही उसने मुनिवर को प्रणाम किया कि अग्नि स्वयं प्रदीप्त हो उठी।

७५. अग्नि ने मुनि के शरीर के चर्म, मांस, बाल और अवयवों को, जो पापों से नहीं जले थे, जला डाला; किंतु घी और जलावन की (पर्याप्त) मात्रा तथा हवा के रहने पर भी यह हड्डियों को नहीं जला सकी।

७६. तब उचित समय पर उन्होंने मृत महात्मा की हड्डियों को उत्तम जल से शुद्ध किया और मल्लों के नगर में सोने के घड़ों में उन (हड्डियों) को रखकर, उन्होंने प्रशंसा के स्तोत्र गाये:—

७१—एलगज = इलायची या दालचीनी।

७६—"घड़ों में" बहुवचन है, एकवचन होना उचित था।

७७. "कलशों में उत्कृष्ट महाधातु है, जैसे कि महापर्वत की मणिमय धातु हो, और ये धातुएँ अग्नि से नष्ट नहीं हुईं, जैसे कि स्वर्ग में देवेन्द्र (ब्रह्मा) का धातु (कल्पान्त की अग्नि से नष्ट नहीं होता)।

७८. ये मैत्रीमय तथा कामाग्नि से नहीं जल सकने योग्य हड्डियाँ (=अस्थि) उन (तथागत या हड्डियों) की भक्ति के प्रभाव से रक्खी गई हैं, और शीतल होने पर भी हमारे हृदय को गर्म कर रही हैं।

७९. जिन्होंने इच्छा को जीता और जो संसार में अद्वितीय थे उनकी हड्डियाँ, उनकी पारमार्थिक शक्ति के कारण, विष्णु के (वाहन) गरुड़ द्वारा भी नहीं ढोये जा सकते, तो भी हम मानव उन्हें ढोते हैं।

८०. अहो ! संसार के नियम का प्रभाव निष्ठुर है और इसकी शक्ति के वशीभूत वह भी हुए, जिनकी शक्ति धर्म पर थी और इसलिए, जिनका यश सारी सृष्टि में व्याप्त हुआ उनके ये शारीरिक अवशेष इन घड़ों में रक्खे जाते हैं।

८१. उनकी दीप्ति दूसरे सूर्य की दीप्ति के समान थी और इससे उन्होंने पृथ्वी को प्रकाशित किया। उनके शरीर का रंग सुनहला था, तो भी अग्नि ने केवल बची हुई हड्डियों को ही छोड़ा है।

८२. मुनि ने दोषों के बड़े बड़े पर्वतों को विदीर्ण किया, और जब उन पर दुःख आया, तो उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा; उन्होंने सब दुःख का निरोध किया, तो भी अग्नि ने उनके शरीर को जला ही डाला।

८३. युद्ध में मल्ल दुश्मनों को रुलाते हैं, अपने आश्रितों के आँसू पोछते हैं, और प्रिय जन के लिए भी आँसू बहाने से विरत रहते हैं, तो भी इस समय मार्ग पर आँसू बहाते हुए वे शोक कर रहे हैं।"

७७—ब्रह्मा का धातु = ब्रह्मा का पद।

८४. अभिमान एवं बाहुबल होने पर भी उन्होंने विलाप किया और नगर में ऐसे प्रवेश किया, जैसे जंगल में और बीथि-वासियों (नागरिकों) द्वारा धातुओं की पूजा हो जाने पर, उन्होंने उनकी पूजा के लिए एक उज्ज्वल महल बनाया।

बुद्धचरित महाकाव्य का "निर्वाण की प्रशंसा" नामक
सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त।

अट्ठाईसवाँ सर्ग

धातु-विभाजन

१. कुछ दिनों तक उन लोगों ने विधिवत् समुचित रीति से धातुओं की पूजा की ; तब उन धातुओं को लेने के लिए उस नगर में सात पड़ोसी राजाओं के दूत क्रम से आये ।

२. तब यथासमय उनकी बात सुनकर, मल्लों ने अभिमान-वश और धातुओं के प्रति भक्ति होने के कारण उन्हें नहीं देने का निश्चय किया, बल्कि युद्ध करना पसन्द किया ।

३. तब उनका उत्तर जानकर सातों राजा, सात मारुतों के समान, कुश के नाम से विख्यात उस नगर में अत्यन्त वेगपूर्वक अपनी सेनाओं के साथ आये, जो बढ़ती हुई गङ्गा की धारा के समान थीं ।

४. तब उन राजाओं के घोड़ों का शब्द सुनकर नगर-निवासी जंगल से शीघ्रतापूर्वक नगर में घुस गये, उनके चेहरे भयभीत थे ··· ।

५. तब राजाओं ने दूरवर्ती वनों में हाथियों को बाँधकर नगर को घेर लिया और उचित-रीति से व्यूह-रचना कर अच्छे मल्लों के प्रतिकूल आचरण किया ।

६. तब वह नगरी, शोकाकुल स्त्री के समान, छतरूपी भुजाओं को ऊपर फेंककर और चँवररूपी सुन्दर एवं लम्बी पपनियों से द्वाररूपी आँखों को बन्द कर, शोक-मग्न हो गई ।

७. जब सातों राजा एककार्य होकर अपने प्रताप से चमकने लगे, तब पृथ्वी आकाश के समान भयंकर हो गई, जिसमें सातों ग्रह एक साथ एक ही समय चमक रहे हों।

८. तब स्त्रियों की भी नाकें मदस्रावी हाथियों की गंध से, उनकी आँखें हाथियों की सूँड़ोंद्वारा उड़ाई गई धूल से, और उनके कान घोड़ों हाथियों एवं दुन्दुभियों की ध्वनि से आक्रान्त हुए।

९. घेरे में चारों ओर युद्ध ही दिखाई पड़ता था, द्वार हाथियों और घोड़ों से घिर गये ... ...।

१०. तब डरे हुए नगर-निवासियों ने साहस करके घबराहट छोड़ी और वे प्राकारों पर एकत्र हो गये; उनकी बर्छियाँ तलवारें और तीर शत्रुओं पर बाज के समान चमक रहे थे।

११. कुछ लोग उत्तेजित होकर गरजे, वैसे ही दूसरों ने एकत्र होकर शङ्ख फूँके। कुछ लोग इधर उधर तेजी से गये, वैसे ही दूसरों ने अपनी तेज तलवारें चमकाईं।

१२. तब मल्लों को विजय-प्राप्ति के लिए लड़ने को तैयार तथा मल्लों (पहलवानों) के समान गरज गरजकर अपना अपना नाम बताते देखकर, उन योद्धाओं की पत्नियों ने एक ही साथ उनके चित्त ओषधि और पुरस्कार तैयार किये।

१३. योद्धाओं की काँपती हुई स्त्रियों ने अपने पुत्रों को कवच पहनाये, जो युद्ध के अग्रभाग में जाना चाहते थे, और उन्होंने उनके लिए मङ्गल-कर्म किये, उन (स्त्रियों) के मुख उदास थे और आँसू अनियंत्रित।

१४. हरिणी के समान अधोमुख अन्य स्त्रियों ने अपने अपने पति के पास जाकर उस धनुष को पकड़ रखा, जिसे वह लेना चाहता था और रणोन्मुख वीर को देखते ही (उनके पग) रुक गये और वे न तो आगे ही गईं और न स्थिर ही खड़ी रहीं।

१५. जब राजाओं ने मल्लों को इस तरह सुसज्जित एवं घड़े में बन्द साँपों के समान युद्ध के लिए निकलते देखा, तब उन्होंने युद्ध करने का निश्चय किया।

१६. द्रोण नामक ब्राह्मण ने रथ हाथी घोड़े और पैदल सेना को उत्तेजित और युद्ध के लिए पूरा तैयार (कृतसङ्कल्प) देखा, और अपनी विद्वत्ता एवं प्रेमपूर्ण दया के कारण उसने ये वचन कहे :—

१७. "युद्धस्थल में आप तीरों से शत्रुओं के क्रोध और जीवन को शान्त कर सकते हैं, किंतु किलों में रहनेवालों के साथ आप आसानी से वैसा नहीं कर सकते, उन शत्रुओं के साथ तो और भी नहीं जिनका चित्त (= कार्य) एक है।

१८. यदि आप घेरा डालकर शत्रुओं को जीत भी लें, तो क्या दृढ़चित्त होकर उन्हें उन्मूलित करना तथा निर्दोष नगर-निवासियों को घेरे मे डालकर हानि पहुँचाना धर्मसंगत है ?

१९. जैसे कि बिल में घुसते समय कृष्ण सर्प रास्ते में मिलकर एक दूसरे को काटते हैं, वैसे ही घेरा डालने से या तो आपकी एकान्त (पूरी) जीत नहीं होगी, या जो घेरे जायँगे, उन्हीं की जीत होगी।

२०. क्योंकि तुच्छ मनुष्य भी नगर के घेरे का समाचार सुनने पर उत्तेजित होकर बड़े काम के हो जायँगे, जैसे कि थोड़ी सी भी आग जलावन पाकर बढ़ जाती है।

२१. नगर में घिरकर भी धर्मात्मा मनुष्यों ने तपस्याद्वारा उन्हें पीछे हटाया, जो उनकी हत्या करने आये थे और अशक्त शस्त्रों के होने पर भी उन्होंने धर्म-बल से कुश-नगर में करन्धम को जीता।

२२. उन राजाओं को, जिन्होंने यश या राज्य (या विषय) के लिए सारी वसुधा को प्राप्त किया, इसे छोड़कर धूल में लौट जाना पड़ा, जैसे कि पोखर से पानी पीने पर बैलों को चारागाह में लौट जाना पड़ता है।

२३. अतः धर्म और अर्थ के लिए क्या जरूरी है, इसे ठीक ठीक देखकर आपको शान्तिपूर्ण उपायों (= साम) से प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि जो तीरोंद्वारा जीते जाते हैं वे फिर प्रदीप्त हो सकते हैं; किंतु जो शान्तिपूर्ण उपायों से जीते जाते हैं उनका विचार नहीं बदलता है।

२४. यह सब आपकी शक्ति से परे है, आपकी सेना शत्रु की सेना का मुकाबला नहीं कर सकती। जिन शाक्य-मुनि का सम्मान करना आपको अभीष्ट है, उन्हीं के उपदेश के अनुसार आपको सहनशीलता (क्षमा) का आचरण करना चाहिए।"

२५. यद्यपि वे राजा थे, तो भी उस भले मनुष्य ने उन्हें दृढ़तापूर्वक उपदेश दिया और ब्राह्मणोचित स्पष्टवादिता एवं प्रेमपूर्ण दया के साथ उन्हें वास्तविक हित की बात कही। तब उन्होंने उत्तर दिया :—

२६. "आपके ये शब्द समयानुकूल और बुद्धिमत्तापूर्ण हैं और हमारी भलाई के लिए मित्रतापूर्वक कहे गये हैं; अब आपको हमारा आशय विदित हो, जिसका कारण है हमारी धर्म-रति और अपने बल का भरोसा।

२७. नियमतः मनुष्य काम या क्रोध के कारण अथवा शक्ति या मृत्यु (हिंसा ?) के लिए कार्य-भार उठाते हैं ; किंतु हमने श्रद्धा से प्रेरित होकर (= साभिमानाः) केवल बुद्ध का सम्मान करने के लिए शस्त्र ग्रहण किया है ।

२८. शिशुपाल और चेदियों ने ··· ··· अहङ्कारवश कृष्ण के साथ युद्ध किया ; तब जिन्होंने अहङ्कार को जीता उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन तक संकट में डालें ?

२९. पृथ्वी पालन करनेवाले वृष्णि-अन्धक नामक राजाओं ने एक कन्या के लिए युद्ध किया, तब जिन्होंने काम (-वासना) को जीता उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन भी सङ्कट में डालें ?

३०. भृगु के पुत्र उस क्रोधी मुनि ने क्षत्रियों को उन्मूलित करने के लिए शस्त्र ग्रहण किया ? तब जिन्होंने क्रोध को जीता उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन तक सङ्कट में डालें ?

३१. दैत्य, यद्यपि वह अत्यन्त भयङ्कर था, सीतारूपी (सीताभिधानं) मृत्यु को ग्रहण कर विनाश को प्राप्त हुआ ; तब जिन्होंने सब परिग्रह छोड़े उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन भी सङ्कट में डालें।

३२. उसी प्रकार एलि और पक, जिनकी पारस्परिक शत्रुता बढ़ती ही गई, (मोह-वश) नाश को प्राप्त हुए ; तब जो मोह से मुक्त थे उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन भी खतरे में डालें ?

३३. संसार में ये और बहुतेरे दूसरे युद्ध अनुचित कारणों से हुए; तब हम क्यों न लड़ें, जब कि हम बुद्ध की भक्ति से बँधे हुए हैं और यह (युद्ध) हमारे लिए हितकारी है ?

३४. यही हमारा उद्देश्य है ; आप शीघ्र ही हमारा दूत बनकर जायँ और अपनी सारी शक्ति लगाकर (= सर्वात्मना) प्रयत्न करें जिससे यह उद्देश्य विना युद्ध किये ही सिद्ध हो जाय ।

३५. यद्यपि हम लड़ने के लिए तैयार हैं और हमें तेज तीर हैं, तो भी धर्मानुसार कहे गये आपके वचनों ने हमें रोक लिया है , जैसे कि मंत्र साँपों को रोक लेते हैं जो अपने फैलते हुए विष को पी जाते हैं ।"

३६. "मैं ऐसा ही करूँगा" यह कहकर ब्राह्मण ने राजाओं का आदेश ग्रहण किया और नगर में प्रवेश किया ; यथासमय उसने मल्लों से भेंट की और उनसे मिलकर उसने उचित समय पर उनसे ये वचन कहे:—

३७. "ये नृप, जिनके हाथों में तीर हैं और जिनके चमकीले कवच सूर्य के समान उज्ज्वल हैं, आपके इस नगर के द्वारों पर, मांस के टुकड़ों को चाटते हुए सिंहों के समान, उछलने को तैयार हैं ।

३८. म्यानों में रखी हुई अपनी तलवारों को तथा सुनहली पीठ-वाले अपने धनुषों को देखते हुए वे युद्ध की पुकार से नहीं डरते, किंतु मुनि के धर्म का स्मरण करते हुए वे धर्म-विरुद्ध आचरण करने से डरते हैं ।

३९. वे कहते हैं 'आपको हमारे उद्देश्य का आदर करना चाहिए ; क्योंकि हम राज्य या सम्पत्ति के लिए नहीं, अहंकार या शत्रुता से नहीं, किंतु मुनि की भक्तिवश आये हैं ।

४०. मुनि समान-रूप से हमारे और आपके गुरु थे ; इसी कारण यह सङ्कट आया है । इसलिए यह बन्धु-वर्ग एकत्र हुआ है और मुनि की धातुओं की पूजा करने के एकमात्र उद्देश्य से यहाँ आया है ।

४१. धन की कृपणता उतना बड़ा पाप नहीं है जितना कि धर्माचरण की कृपणता। कृपणतापूर्वक बोलने का निश्चय करना पाप है और पाप तो धर्म का शत्रु है ही।

४२. यदि आप देने का निश्चय नहीं करते हैं तो किले से निकलकर अपने अतिथियों की सेवा-शुश्रूषा कीजिए। जिनका बल (किले के) फाटको में है, तीरों में नहीं, वे क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न नहीं हुए हैं।

४३. राजाओं ने यही संदेश आपको दिया है, और यह सद्भावना एवं साहस से भरा है। मैंने भी इस विषय पर अपने मन में स्नेहपूर्वक विचार किया है, अब मेरा वक्तव्य ध्यानपूर्वक सुनिये।

४४. दूसरों के साथ विवाद करने से न सुख होता है, न धर्म; दुर्भावना को प्रश्रय न देकर शान्ति-मार्ग का अनुसरण कीजिए। क्योंकि मुनि क्षमा का उपदेश दिया करते थे, जिससे भक्ति की अग्नि सदा बढ़ती ही रहती है।

४५. मनुष्य, अर्थ या काम, इन दो में से एक के लिए संघर्ष करते हैं, किंतु जो मनुष्य धर्म के निमित्त आर्य (साधु) हो गया है उसके लिए शम (शान्ति) और शत्रुता परस्पर-विरोधी हैं।

४६. जिन्होंने स्वयं शान्ति प्राप्त कर उदार हृदय से सब जीवों को करुणा का उपदेश दिया उन करुणामय की पूजा करते हुए आप (दूसरों को) क्लेश पहुँचायें, यह आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

४७. अतः धातुओं को देकर आप उनके साथ यश व धर्म के भागी बनें। इस प्रकार आप उनके मित्र बनेंगे और वे भी धर्म व यश प्राप्त करेंगे।

४८. हम धर्मानुयायियों को, धर्म से गिरे हुए लोगों को प्रयत्न-पूर्वक भी धर्म से युक्त करना चाहिए। क्योंकि जो दूसरों को धर्म से युक्त करते हैं वे धर्म को चिर-स्थायी बनाते हैं।

४९. परम पवित्र मुनि ने कहा है कि धर्म का दान सब दानों से श्रेष्ठ है; जो कोई भी धन-दान कर सकता है, किंतु धर्म का दाता दुर्लभ है।"

५०. जब उन्होंने (आचार्य) द्रोण के समान ज्ञानी ब्राह्मण (द्रोण) से विख्यात व आनन्ददायक धर्मवचन सुने, तब अत्यन्त लज्जित होकर एक-दूसरे को देखते हुए उन्होंने उस (ब्राह्मण) से कहा:—

५१. "आपका निश्चय सन्मित्र का है और ब्राह्मणोचित गुणों से युक्त है। हम बुरे घोड़ों के समान कुमार्ग पर भटक रहे थे, किंतु आपने हमें सन्मार्ग पर स्थापित किया।

५२. हमें अवश्य ही वैसा करना चाहिए जैसा कि आपने कहा, क्योंकि दयालु मित्र का उपदेश ग्रहण करना उचित ही है। क्योंकि जो लोग मित्र के वचन की अवहेलना करते हैं वे पीछे विपत्ति में पड़कर शोक करते हैं।"

५३. तब विश्व (=लोकधातु) को जाननेवाले बुद्ध की धातुओं को मल्लों ने आठ भागों में बाँटा और तब अपने लिए एक भाग रखकर, उन्होंने शेष सात भाग दूसरों को दे दिये, प्रत्येक के लिए एक।

५४. मल्लों से इस प्रकार सम्मानित होकर राजा लोग भी, जिनका लक्ष्य सिद्ध हो गया, आनन्दपूर्वक अपने अपने देश को लौट गये। तब उन्होंने अपने अपने नगर में मुनि की धातुओं (को रखने) के लिए विधिवत् स्तूप बनाये।

५५. तब अपने देश में मुनि के लिए एक स्तूप बनाने की इच्छा से द्रोण ने अपने हिस्से में घड़ा लिया और पिसल नामक लोगों ने भक्ति-पूर्वक बची हुई राख ली।

५६. शुरू में श्वेत पर्वतों के समान आठ स्तूप थे, जिनके भीतर धातुएँ थीं। ब्राह्मण का घड़ावाला स्तूप नवाँ था और राखवाला दसवाँ।

५७. प्रजा-सहित राजाओं ने और बच्चों-सहित ब्राह्मणों ने पृथ्वी पर मुनि के इन विविध स्तूपों को पूजा की, जिनपर पताकाएँ फहरा रही थीं और जो कैलास की बर्फीली चोटियों के समान दिखाई पड़ते थे।

५८. अनेक भूपों ने स्तोत्र-गान, उत्कृष्ट सुगन्धियों, सुन्दर मालाओं और गीत-ध्वनि से स्तूपों की, जिनमें बुद्ध (= जिन)की धातुएँ थीं, उत्तम उपासना की।

५९. तब कालक्रम से पाँच सौ अर्हत् पाँच पर्वतों से चिह्नित नगर में एकत्र हुए और फिर से धर्म को अच्छी तरह संस्थापित (स्थिर) करने के लिए उन्होंने पर्वत के ऊपर मुनि के उपदेशों का संग्रह किया।

६०. आनन्द ने ही महामुनि से सब उपदेश सुने थे, ऐसा निश्चय कर शिष्यों ने सङ्घ की सम्मति से उस वैदेह मुनि से शास्त्र (=प्रवचन) दुहराने के लिए कहा।

६१. तब वह उन लोगों के बीच बैठ गया और "मैंने ऐसा सुना है" इस तरह कहते हुए तथा स्थान, प्रसङ्ग, समय और श्रोता की व्याख्या करते हुए, उसने उपदेशों को वैसे ही दुहराया जैसे कि वक्ता-श्रेष्ठ (बुद्ध) ने कहा था।

५५—पिसल के स्थान में "पिप्पल" पढ़ने का सुझाव जौन्सटन ने किया है, इसलिए कि मौर्य पिप्पलवनिक थे। चीनी-अनुवाद में है "कुशी नगर के लोग"।

६२. इस प्रकार अर्हतों के साथ उसने मुनि का धर्म-शास्त्र निश्चित किया और प्रयत्नपूर्वक इसका पूरा ज्ञान प्राप्त करने पर ही मनुष्य दुःख के परे गये हैं, जा रहे हैं, और जायँगे।

६३. काल-क्रम से धर्म-रत अशोक का जन्म हुआ ; उसने अहंकारी शत्रुओं को शोकाकुल किया और दुःखी लोगों का शोक दूर किया, वह फूलों और फलों से लदे अशोक वृक्ष के समान प्रियदर्शन था।

६४. मौर्य-वंश के उज्ज्वल गौरव अशोक ने प्रजा की भलाई के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी पर स्तूप बनाने का कार्य आरम्भ किया और इसीलिए जो चण्डाशोक कहलाता था वह धर्म-राज अशोक बन गया।

६५. उस मौर्य ने मुनि की धातुओं को, सात स्तूपों से जिनमें वे रक्खी गई थीं, लेकर एक ही दिन में क्रम से अस्सी हजार भव्य स्तूपों के बीच बाँट दिया, जो शरद् ऋतु के उज्ज्वल मेघों के समान चमक उठे।

६६. रामपुर में स्थित आठवाँ मूल स्तूप उस समय विश्वस्त नागों से रक्षित था और इसलिए राजा ने उस (स्तूप) से धातुओं को प्राप्त नहीं किया ; किंतु इससे उन (धातुओं) में उसकी श्रद्धा बहुत बढ़ गई।

६७. चञ्चल राज्य-लक्ष्मी की रक्षा करते हुए भी और चित्त के लिए शत्रु-स्वरूप उपभोगों के बीच रहते हुए भी, राजा ने काषाय-वस्त्र पहने विना ही अपने चित्त को शुद्ध किया और प्रथम फल प्राप्त किया।

६८. इस प्रकार जिस किसी ने जहाँ कहीं मुनि का सम्मान (पूजा) किया है, करता है, या करेगा उसे सज्जन-सुलभ परम फल प्राप्त हुआ है होता है या होगा।

६९. हे बुद्धिमान् मनुष्यो, विदित हो कि बुद्ध के गुण ऐसे हैं कि समान मानसिक शुद्धि होने पर, ऐहिक जीवन में मुनि का सम्मान करने

से या उनके परिनिर्वाण के बाद उनकी धातुओं को प्रणाम करने से एक ही फल प्राप्त होता है।

७०. इसलिए उदारचेता करुणामय परम पूज्य मुनि की पूजा करनी चाहिए, जो लाभप्रद, सदा-अन्वर्थ, अविकारी (अपरिवर्तनशील) परम और उत्कृष्ट धर्म के ज्ञाता थे।

७१. क्या इस जगत् में यह उचित नहीं कि कृतज्ञ बुद्धिमान् धर्मात्मा पुरुष उन्हें धन्यवाद दें जिन्होंने, मनुष्यों के आशय की सम्यक् जानकारी रखते हुए, करुणावश, परोपकार के लिए महान् परिश्रम किया !

७२. पृथ्वी पर जरा और मरण के समान तथा स्वर्ग में वहाँ से गिरने के समान कोई विपत्ति नहीं, यह देखते हुए कौन सज्जन उतना पूज्य है जितना कि वह जिन्होंने विश्व की इन दो विपत्तियों को पहचाना ?

७३. जब तक जन्म है तब तक दुःख है, और पुनर्जन्म से मुक्ति के समान कोई सुख नहीं ; कौन सज्जन उतना पूज्य है जितना कि वह जिन्होंने इस मुक्ति को प्राप्त कर संसार को दिया ?

७४. मुनि-श्रेष्ठ के प्रति सम्मान-भाव से, मुनि के शास्त्रानुसार, मनुष्यों के हित व सुख के लिए, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखाने के लिए, यह काव्य रचा गया।

बुद्धचरित महाकाव्य का "धातु-विभाजन" नामक
अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त।

भदन्त भिक्षु आचार्य महाकवि वाग्मी जगद्विख्यात सुवर्णाक्षी-पुत्र साकेत-निवासी अश्वघोष की यह कृति।

६९—"हे बुद्धिमान् मनुष्यो, विदित हो" या "बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं"।

नामानुक्रमणी

---

*कसया, जिला गोरखपुर, तहसील देवरिया स्टेशन, O. T. Ry.

---

[1]आधुनिक रुम्मिन देई, नेपाल की तराई में O. T. Ry. के नौतनवाँ स्टेशन से लगभग आठ मील पश्चिम।

कुछ पारिभाषिक शब्द

(अकारादि-क्रम से)

अर्हत् = जीवन्मुक्त, मुक्त पुरुष, जिसने इस जीवन में निर्वाण प्राप्त किया है और जो इस जीवन के बाद भी निर्वाण को ही प्राप्त होगा। (दो प्रकार के निर्वाण के लिए देखिए—बु० च० पन्द्रह ४, पा० टि०।)

अष्टाङ्गिक मार्ग = आठ अङ्गोंवाला मार्ग, आठ अङ्ग ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। सम्यक् दृष्टि = यथार्थ ज्ञान, दुराचार और सदाचार की पहचान, चार आर्य सत्यों का सम्यक् ज्ञान। सम्यक् सङ्कल्प = काम-वासना से बचे रहने का तथा क्रोध और हिंसा न करने का सङ्कल्प। सम्यक् वाणी = झूठ न बोलना, चुगली न करना, कठोर वचन न कहना और फजूल न बोलना। सम्यक् कर्मान्त = चोरी, व्यभिचार और प्राणि-हिंसा न करना। सम्यक् आजीविका = शस्त्र, जानवर (प्राणि), मांस, मद्य और विष का व्यापार न करना। सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) = अनुत्पन्न अकुशल विचारों का उत्पादन न करना, उत्पन्न अकुशल विचारों का नाश करना, अनुत्पन्न कुशल विचारों का उत्पादन करना, उत्पन्न कुशल विचारों का बढ़ाना। सम्यक् स्मृति = यथार्थ जागरूकता, कार्य करते समय यह ज्ञान रखना कि मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ। सम्यक् समाधि = शुभ कर्मों के करने में चित्त की एकाग्रता।

आत्मवाद = आत्मदृष्टि, आत्मा नित्य है ऐसा मानना।

आभास्वर देव = रूपलोक की, जहाँ के प्राणियों का शरीर प्रकाशमय है, एक जाति।

आयतन = स्थान ; चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन—ये आध्यात्मिक (= शरीर में) या आन्तरिक आयतन हैं; रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म—ये बाह्य आयतन हैं।

आर्य = स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्।

आर्य सत्य = दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग।

आस्रव = मल, दोष; कामास्रव (भोग-सम्बन्धी इच्छारूपी मल), भवास्रव (भिन्न भिन्न लोकों में जन्म लेने का लालचरूपी मल), दृष्टि-आस्रव (गलत धारणारूपी मल), तथा अविद्यास्रव।

ध्यान = चार प्रकार का—प्रथम, द्वितीय, तृतीय, और चतुर्थ। प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता, ये पाँच अङ्ग रहते हैं। दूसरे में वितर्क और विचार नहीं रहते, शेष तीन रहते, तीसरे में प्रीति भी नहीं रहती, केवल अन्तिम दो रहते हैं और चौथे में सुख भी नहीं रहता, केवल उपेक्षा-सहित एकाग्रता रहती है।

नीवरण = विघ्न; नीवरण पाँच हैं—कामछन्द (विषयों में अनुराग), व्यापाद (क्रोध), स्त्यानमिद्ध (आलस्य), (औद्धत्य—कौकृत्य) (उद्धतपन-पछतावा) और विचिकित्सा (संशय)।

पृथग्जन = अज्ञ, संसारी जीव। स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् ये सब आर्य जन कहलाते हैं, इनके अतिरिक्त दूसरे सब लोग पृथग्जन।

प्रज्ञा = ज्ञान, विद्या, परम ज्ञान, चित्त का सर्वोपरिय विकास।

प्रतीत्य समुत्पाद = कार्य-कारण-सम्बन्धी नियम। प्रतीत्य समुत्पाद के निम्नलिखित बारह अङ्ग हैं, जिनमें से एक के होने से दूसरा होता है और एक का निरोध होने से दूसरे का निरोध होता है—(१) अविद्या, (२) संस्कार, (३) विज्ञान, (४) नामरूप, (५) छः आयतन, (६) स्पर्श, (७) वेदना, (८) तृष्णा,

(९) उपादान, (१०) भव, (११) जन्म, और (१२) जरा-मरण। अविद्या के होने से संस्कार, संस्कारों के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नामरूप, नामरूप के होने से छः आयतन, छः आयतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म और जन्म के होने से जरा-मरण होता है। अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध, संस्कारों के निरोध से विज्ञान-निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप-निरोध, नामरूप के निरोध से छः आयतनों का निरोध, छः आयतनों के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव-निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, और जन्म के निरोध से जरा-मरण का निरोध होता है। प्रतीत्य-समुत्पाद की व्याख्या के लिए देखिये—बु० च० चौदह ५२-८३, अ० को० तीन २०-२५ तथा ध० दू० वर्ष ४ पृ० ११, वर्ष ६ पृ० २७, वर्ष ८ पृ० २२।

बोधि-अङ्ग = सात हैं—स्मृति, धर्म-विचय (धर्म-अन्वेषण), वीर्य (उद्योग), प्रीति (हर्ष), प्रश्रब्धि (शान्ति), समाधि, और उपेक्षा।

मध्यम मार्ग = मध्यम प्रतिपद्, अष्टाङ्गिक मार्ग; तप और भोग इन दो अन्तों को छोड़ने के कारण यह मध्यम मार्ग कहलाया।

शील = सदाचार। हिंसा-विरति, मिथ्या भाषण-विरति, चोरी से विरति, व्यभिचार-विरति और मादक-द्रव्य के सेवन से विरति—ये पाँच शील गृहस्थ और भिक्षु दोनों ही के लिए हैं; अपराह्ण-भोजन-त्याग, नृत्य-गीत-त्याग, माला आदि के श्रृंगार का त्याग, महार्घ शय्या का त्याग तथा सोने चाँदी का त्याग—ये पाँच केवल भिक्षुओं के शील हैं।

संज्ञा = इंद्रिय और विषय के एक साथ मिलने पर, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना (= अनुभूति) के बाद "यह अमुक विषय है" इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसे संज्ञा कहते हैं।

समाधि = चित्त की एकाग्रता; समाधि के दो भेद हैं, लौकिक और अलौकिक, जिन्हें क्रमशः शमथ और विदर्शना भी कहते हैं। पाँच नीवरणों अर्थात् विघ्नों के शमन से शमथ अर्थात् चित्त की एकाग्रता होती है। सब धर्म अनित्य हैं, दुखमय हैं, तथा अनात्म हैं, ऐसा ज्ञान होने पर विदर्शना होती है।

समापत्ति = चार ध्यानों से ऊपर की समाधि।

संयोजन = बन्धन। संयोजन दस हैं—(१) सत्कायदृष्टि (काय को सत् समझने की दृष्टि, मिथ्या दृष्टि—मृत्यु के बाद अस्तित्व नहीं है ऐसा मानना या आत्मा है ऐसा मानना), (२) विचिकित्सा (संदेह) (३) शीलव्रत-परामर्श (बाह्य आचार और व्रतों से कृतकृत्यता मानना), (४) काम-राग (स्थूलशरीर-धारियों के भोगों की तृष्णा), (५) रूप-राग (प्रकाशमय शरीर-धारियों के भोगों की तृष्णा), (६) अरूप-राग (रूपरहित देवताओं के भोगों की तृष्णा), (७) प्रतिघ (प्रतिहिंसा) या व्यापाद (क्रोध), (८) मान (अभिमान), (९) औद्धत्य, और (१०) अविद्या।

संवेग = वैराग्य, भय।

स्कन्ध = पाँच हैं—रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, और विज्ञान-स्कन्ध।

स्रोतआपन्न = आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर आरूढ़ व्यक्ति, जिसका अपने लक्ष्य तक पहुँचना निश्चित है।*

---

* इस सूची के शब्दों की व्याख्या लिखने में कौशाम्बी जी, राहुल जी, आनन्दजी, बोधानन्दजी तथा वियोगी हरि जी की कृतियों से सहायता ली गई है।

शुद्धि-पत्र

सर्ग	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
१५	३	वृषभ्	वृषभ
१५	५४	धोषणा	घोषणा
१६	४७	ह्रो	हो
१६	९०	हुई	हुई
१७	४	यो	यों
१८	१९	—परिणाम	परिणाम
१८	२३	नहीं	नहीं
१८	२३	सङ्कल्प	सङ्कल्प
१८	८७	प्रसाद	प्रासाद
१९	१५	पड़ें	पड़े
१९	२०	कुछ	कुछ
१९	पृ० ४७ शीर्षक	१६	१९
२०	९	है	हैं
२०	५६	महात्म्य०	माहात्म्य
२१	१३ (पा० टि०)	सुह्मा	सुह्म
२१	३०	मैंने को	मैने को
२२	४	ससार	संसार
२२	४७ (पा० टि०)	सुखंम्	सुखम्
२४	५३	की	का
२६	३	बादलो	बादलों
२६	५६	असतुष्ट	असंतुष्ट
२७	·१९ (पा० टि०)	अनिश्चित	अर्थ अनिश्चित है

संस्कृत-भवन का प्रकाशन

बुद्धचरित, भगवान् बुद्ध की सर्वश्रेष्ठ प्राचीन जीवनी।

पहला भाग, सर्ग-१४, जन्म से बुद्धत्व-प्राप्ति तक (मूल संस्कृत और प्रथम हिन्दी अनुवाद) १॥)

दूसरा भाग, सर्ग १५-२८, प्रथम धर्मोपदेश से महापरिनिर्वाण तक प्रथम हिन्दी-अनुवाद १)

निम्न-लिखित ग्रन्थों को क्रमशः प्रकाशित करने का आयोजन किया जा रहा है:—

हर्षचरित (हिन्दी-अनुवाद)

सौन्दरनन्द (मूल संस्कृत और हिन्दी-अनुवाद)

बुद्धचरित, पहला भाग

पर कुछ सम्मतियाँ

"अनुवाद मूलानुसारी और स्पष्ट है। भाषा सरल और सुबोध है और वह मूल भावोंको हृदयङ्गम करने में पूरी सहायता देती है।"

—सरस्वती, अप्रैल १९४३।

"अश्वघोष का यह काव्य भगवान् बुद्ध के जीवन की एक झलक है। शैली सरस और वर्णन अलङ्कारपूर्ण है। अनुवाद इतना अच्छा हुआ है कि मूल श्लोक का आनन्द आ जाता है। इसका दूसरा भाग भी शीघ्र निकाला जाना चाहिए। यह ग्रन्थ प्रत्येक भारतीय के पढ़ने और संग्रह करने योग्य है।"

—विशाल-भारत, जून १९४३।

"पुस्तक बहुत अच्छी है।"

—सेठ जुगलकिसोर बिड़ला।

"A faithful rendering in simple Hindi."

—MODERN REVIEW, SEPTEMBR, 1943.

"Your Translation is excellent. It is quite close to the original. It has at the same time preserved almost all the qualities of the Sanskrit Text. The perusal of the Translation produces on the mind of a reader almost the same impression as is created on him by the study of the poem in its original text."

—DR. L. SARUP, PRINCIPAL, UNIVERSITY ORIENTAL, COLLEGE, LAHORE.

"I have read portions of it with absorbing interest. The Hindi rendering is faithful and brings out the spirit of the original. I hope the remaining part will also be published before long."

—DR. AMARANATHA JHA, VICE-CHANCELLOR, ALLAHABAD, UNIVERSITY.

संस्कृत-भवन कठौतिया,
पो० काझा, जि० पूर्णियाँ (बिहार) ।

"A faithful rendering in simple Hindi."

—MODERN REVIEW, SEPTEMBER, 1943.

"Your Translation is excellent. It is quite close to the original. It has at the same time preserved almost all the qualities of the Sanskrit Text. The perusal of the Translation produces on the mind of a reader almost the same impression as is created on him by the study of the poem in its original text."

—DR. L. SARUP, PRINCIPAL, UNIVERSITY ORIENTAL COLLEGE, LAHORE.

"I have read portions of it with absorbing interest. The Hindi rendering is faithful and brings out the spirit of the original. I hope the remaining part will also be published before long."

—DR. AMARANATHA JHA, VICE-CHANCELLOR, ALLAHABAD, UNIVERSITY.

संस्कृत-भवन कठौतिया,
पो० काझा, जि० पूर्णियाँ (बिहार)।
